व्याख्या—परमात्माद्वारा रचे गये वे इन्द्रियोंके अधिष्ठाता अग्नि आदि सब देवता संसाररूपी इस महान् समुद्रमें आ पड़े। अर्थात् हिरण्यगर्भ पुरुषके शरीरसे उत्पन्न होनेके बाद उनको कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं मिला जिससे वे उस समष्टि-शरीरमें ही रहे। तब परमात्माने उस देवताओंके समुदायको भूख और पिपासासे संयुक्त कर दिया। अतः भूख और प्याससे पीड़ित होकर वे अग्नि आदि सब देवता अपनी सृष्टि करनेवाले परमात्मासे बोले—'भगवन्! हमारे लिये एक ऐसे स्थानकी व्यवस्था कीजिये, जिसमें रहकर हमलोग अन्न भक्षण कर सकें—अपना-अपना आहार ग्रहण कर सकें'॥ १॥

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ॥ २ ॥

(परमात्मा) **ताभ्यः**=उन देवताओंके लिये; **गाम्**=गौका शरीर; **आनयत्**=लाये (उसे देखकर); **ताः**=उन्होंने; **अब्रुवन्**=कहा; **नः**=हमारे लिये; **अयम्**=यह; **अलम्**=पर्याप्त; **न वै**=नहीं है; **इति**=इस प्रकार उनके कहनेपर (परमात्मा); **ताभ्यः**=उनके लिये; **अश्वम्**=घोड़ेका शरीर; **आनयत्**=लाये; (उसे देखकर भी); **ताः**=उन्होंने (फिर वैसे ही); **अब्रुवन्**=कहा कि; **अयम्**=यह भी; **नः**=हमारे लिये; **अलम्**=पर्याप्त; **न वै इति**=नहीं है॥ २॥

व्याख्या—इस प्रकार उनके प्रार्थना करनेपर सृष्टिकर्ता परमेश्वरने उन सबके रहनेके लिये एक गौका शरीर बनाकर उनको दिखाया। उसे देखकर उन्होंने कहा—'भगवन्! यह हमारे लिये पर्याप्त नहीं है, अर्थात् इस शरीरसे हमारा कार्य अच्छी तरह नहीं चलनेका। इससे श्रेष्ठ किसी दूसरे शरीरकी रचना कीजिये।' तब परमात्माने उनके लिये घोड़ेका शरीर रचकर उनको दिखाया। उसे देखकर वे फिर बोले—'भगवन्! यह भी हमारे लिये यथेष्ट नहीं है, इससे भी हमारा कार्य नहीं चल सकता। आप कोई तीसरा ही शरीर बनाकर हमें दीजिये'॥ २॥

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति। पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीद्यथायतनं प्रविशतेति ॥ ३ ॥

ताभ्यः=(तब परमात्मा) उनके लिये; **पुरुषम्**=मनुष्यका शरीर; **आनयत्**=लाये; (उसे देखकर) **ताः**=वे (अग्नि आदि सब देवता); **अब्रुवन्**=बोले; **बत**=बस; **सुकृतम् इति**=यह बहुत सुन्दर बन गया; **वाव**=सचमुच ही; **पुरुषः**=मनुष्य-शरीर; **सुकृतम्**=(परमात्माकी) सुन्दर रचना है; **ताः अब्रवीत्**=(फिर) उन सब देवताओंसे (परमात्माने) कहा; (तुमलोग) **यथायतनम्**=अपने-अपने योग्य आश्रयोंमें; **प्रविशत इति**=प्रविष्ट हो जाओ ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जब उन्होंने गाय और घोड़के शरीरोंको अपने लिये यथेष्ट नहीं समझा, तब परमात्माने उनके लिये पुरुषकी अर्थात् मनुष्य-शरीरकी रचना की और वह उनको दिखाया। उसे देखते ही सब देवता बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'यह हमारे लिये बहुत सुन्दर निवास-स्थान बन गया। इसमें हम आरामसे रह सकेंगे और हमारी सब आवश्यकताएँ भलीभाँति पूर्ण हो सकेंगी।' सचमुच मनुष्य-शरीर परमात्माकी सुन्दर और श्रेष्ठ रचना है; इसीलिये यह देवदुर्लभ माना गया है और शास्त्रोंमें जगह-जगह इसकी महिमा गायी गयी है; क्योंकि इसी शरीरमें जीव परमात्माके आज्ञानुसार यथायोग्य साधन करके उन्हें प्राप्त कर सकता है। जब सब देवताओंने उस शरीरको पसंद किया, तब उनसे परमेश्वरने कहा—'तुमलोग अपने-अपने योग्य स्थान देखकर इस शरीरमें प्रवेश कर जाओ'॥ ३ ॥

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥ ४ ॥

(तब) **अग्निः**=अग्निदेवता; **वाक्**=वाक्-इन्द्रिय; **भूत्वा**=बनकर; **मुखम् प्राविशत्**=मुखमें प्रविष्ट हो गया; **वायुः**=वायुदेवता; **प्राणः**=प्राण; **भूत्वा**=बनकर; **नासिके प्राविशत्**=नासिकाके छिद्रोंमें प्रविष्ट हो गया; **आदित्यः**=सूर्यदेवता; **चक्षुः**=नेत्र-इन्द्रिय; **भूत्वा**=बनकर; **अक्षिणी प्राविशत्**=

आँखोंके गोलकोमें प्रविष्ट हो गया; **दिशः**=दिशाओंके अभिमानी देवता; **श्रोत्रम्**=श्रोत्र-इन्द्रिय; **भूत्वा**=बनकर; **कर्णौ प्राविशन्**=कानोंमें प्रविष्ट हो गये; **ओषधिवनस्पतयः**=ओषधि और वनस्पतियोंके अभिमानी देवता; **लोमानि**=रोएँ; **भूत्वा**=बनकर; **त्वचम् प्राविशन्**=त्वचामें प्रविष्ट हो गये; **चन्द्रमाः**=चन्द्रमा; **मनः**=मन; **भूत्वा**=बनकर; **हृदयम् प्राविशत्**=हृदयमें प्रविष्ट हो गया; **मृत्युः**=मृत्युदेवता; **अपानः**=अपानवायु; **भूत्वा**=बनकर; **नाभिम् प्राविशत्**=नाभिमें प्रविष्ट हो गया; **आपः**=जलका अभिमानी देवता; **रेतः**=वीर्य; **भूत्वा**=बनकर; **शिश्नम् प्राविशन्**=लिङ्गमें प्रविष्ट हो गया ॥ ४ ॥

व्याख्या—सृष्टिकर्ता परमेश्वरकी आज्ञा पाकर अग्निदेवताने वाक्-इन्द्रियका रूप धारण किया और पुरुषके (मनुष्य-शरीरके) मुखमें प्रविष्ट होकर जिह्वाको अपना आश्रय बना लिया। यहाँ वरुणदेवता भी रसना-इन्द्रिय बनकर मुखमें प्रविष्ट हो गये, यह बात अधिक समझ लेनी चाहिये। फिर वायुदेवता प्राण होकर नासिकाके छिद्रोंमें (उसी मार्गसे समस्त शरीरमें) प्रविष्ट हो गये। अश्विनीकुमार भी घ्राण-इन्द्रियका रूप धारण करके नासिकामें प्रविष्ट हो गये—यह बात भी यहाँ उपलक्षणसे समझी जा सकती है; क्योंकि उसका पृथक् वर्णन नहीं है। उसके बाद सूर्यदेवता नेत्र-इन्द्रिय बनकर आँखोंमें प्रविष्ट हो गये। दिशाभिमानी देवता श्रोत्रेन्द्रिय बनकर दोनों कानोंमें प्रविष्ट हो गये। ओषधि और वनस्पतियोंके अभिमानी देवता रोम बनकर चमड़ेमें प्रविष्ट हो गये तथा चन्द्रमा मनका रूप धारण करके हृदयमें प्रविष्ट हो गये। मृत्युदेवता अपान (और पायु-इन्द्रिय) का रूप धारण करके नाभिमें प्रविष्ट हो गये। जलके अधिष्ठातृ-देवता वीर्य बनकर लिङ्गमें प्रविष्ट हो गये। इस प्रकार सब-के-सब देवता इन्द्रियोंके रूपमें अपने-अपने उपयुक्त स्थानोंमें प्रविष्ट होकर स्थित हो गये ॥ ४ ॥

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति। ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्या-

मशनायापिपासे भवतः ॥ ५ ॥

तम्=उस परमात्मासे; **अशनायापिपासे**=भूख और प्यास—ये दोनों; **अब्रूताम्**=बोलीं; **आवाभ्याम्**=हमारे लिये भी; **अभिप्रजानीहि**=(स्थानकी) व्यवस्था कीजिये; **इति**=यह (सुनकर); **ते**=उनसे; **अब्रवीत्**=(परमात्माने) कहा; **वाम्**=तुम दोनोंको (मैं); **एतासु देवतासु**=इन सब देवताओंमें; **एव**=ही; **आभजामि**=भाग दिये देता हूँ; **एतासु**=इन (देवताओं) में ही (तुम्हें); **भागिन्यौ**=भागीदार; **करोमि इति**=बनाता हूँ; **तस्मात्**=इसलिये; **यस्यै कस्यै च**=जिस किसी भी; **देवतायै**=देवताके लिये; **हविः**=हवि (भिन्न-भिन्न विषय); **गृह्यते**=(इन्द्रियोंद्वारा) ग्रहण की जाती है; **अस्याम्**=उस देवता (के भोजन) में; **अशनायापिपासे**=भूख और प्यास—दोनों; **एव**=ही; **भागिन्यौ**=भागीदार; **भवतः**=होती हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—तब भूख और प्यास—ये दोनों परमेश्वरसे कहने लगीं—'भगवन्! इन सबके लिये तो आपने रहनेके स्थान निश्चित कर दिये, अब हमारे लिये भी किसी स्थान-विशेषकी व्यवस्था करके उसमें हमें स्थापित कीजिये।' उनके यों कहनेपर उनसे सृष्टिके रचयिता परमेश्वरने कहा—तुम दोनोंके लिये पृथक् स्थानकी आवश्यकता नहीं है। तुम दोनोंको मैं इन देवताओंके स्थानोंमें भाग दिये देता हूँ। इन देवताओंके आहारमें मैं तुम दोनोंको भागीदार बना देता हूँ। सृष्टिके आदिमें ही परमेश्वरने ऐसा नियम बना दिया था; इसीलिये जब जिस किसी भी देवताको देनेके लिये इन्द्रियोंद्वारा विषय-भोग ग्रहण किये जाते हैं, उस देवताके भागमें ये क्षुधा और पिपासा भी हिस्सेदार होती ही हैं अर्थात् उस इन्द्रियके अभिमानी देवताकी तृप्तिके साथ क्षुधा-पिपासाको भी शान्ति मिलती है ॥ ५ ॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥



तृतीय खण्ड

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥ १ ॥

सः=उस (परमात्मा) ने; **ईक्षत**=फिर विचार किया; **नु**=निश्चय ही; **इमे**=ये सब; **लोकाः**=लोक; **च**=और; **लोकपालाः**=लोकपाल; **च**=भी; (रचे गये, अब) **एभ्यः**=इनके लिये; **अन्नम् सृजै इति**=मुझे अन्नकी सृष्टि करनी चाहिये ॥ १ ॥

व्याख्या—इन सबकी रचना हो जानेपर परमेश्वरने फिर विचार किया—'ये सब लोक और लोकपाल तो रचे गये—इनकी रचनाका कार्य तो पूरा हो गया। अब इनके निर्वाहके लिये अन्न भी होना चाहिये—भोग्य पदार्थोंकी भी व्यवस्था होनी चाहिये; क्योंकि इनके साथ भूख-प्यास भी लगा दी गयी है। अतः उस अन्नकी भी रचना करूँ ॥ १ ॥

सोऽपोऽभ्यतपत्ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत। या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत् ॥ २ ॥

सः=उस (परमात्मा) ने; **अपः**=जलोंको (पाँचों सूक्ष्म महाभूतोंको); **अभ्यतपत्**=तपाया (संकल्पद्वारा उनमें क्रिया उत्पन्न की); **ताभ्यः अभितप्ताभ्यः**=उन तपे हुए सूक्ष्म पाँच भूतोंसे; **मूर्तिः**=मूर्ति; **अजायत**=उत्पन्न हुई; **वै**=निश्चय ही; **या**=जो; **सा**=वह; **मूर्तिः**=मूर्ति; **अजायत**=उत्पन्न हुई; **तत् वै**=वही **अन्नम्**=अन्न है ॥ २ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त प्रकारसे विचार करके परमेश्वरने जलको अर्थात् पाँचों सूक्ष्म महाभूतोंको तपाया—अपने संकल्पद्वारा उनमें क्रिया उत्पन्न की। परमात्माके संकल्पद्वारा संचालित हुए उन सूक्ष्म महाभूतोंसे मूर्ति प्रकट हुई अर्थात् उनका स्थूल रूप उत्पन्न हुआ। वह जो मूर्ति अर्थात् उन पाँच महाभूतोंका स्थूलरूप उत्पन्न हुआ; वही अन्न—देवताओंके लिये भोग्य है ॥ २ ॥

तदेनत् सृष्टं पराङ्त्यजिघांसत्तद्वाचाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम्। यद्धैनद्वाचाग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ३ ॥

सृष्टम्=उत्पन्न किया हुआ; **तत्**=वह; **एनत्**=यह अन्न; **पराङ्**=(भोक्ता

पुरुषसे) विमुख होकर; **अत्यजिघांसत्**=भागनेकी चेष्टा करने लगा; **तत्**=(तब उस पुरुषने) उसको; **वाचा**=वाणीद्वारा; **अजिघृक्षत्**=ग्रहण करनेकी इच्छा की; (परंतु वह) **तत्**=उसको; **वाचा**=वाणीद्वारा; **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=ग्रहण नहीं कर सका; **यत्**=यदि; **[सः]**=वह; **एनत्**=इस अन्नको; **वाचा**=वाणीद्वारा; **ह**=ही; **अग्रहैष्यत्**=ग्रहण कर सकता; (तो अब भी मनुष्य) **ह**=अवश्य ही; **अन्नम् अभिव्याहृत्य**=अन्नका वर्णन करके; **एव**= ही; **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ३ ॥

व्याख्या—लोकों और लोकपालोंकी आहारसम्बन्धी आवश्यकताको पूर्ण करनेके लिये उत्पन्न किया हुआ वह अन्न यों समझकर कि यह मुझे खानेवाला तो मेरा विनाशक ही है, उससे छुटकारा पानेके लिये मुख फेरकर भागने लगा। तब उस मनुष्यके रूपमें उत्पन्न हुए जीवात्माने उस अन्नको वाणीद्वारा पकड़ना चाहा; परंतु वह उसे वाणीद्वारा पकड़ नहीं सका। यदि उस पुरुषने वाणीद्वारा अन्नको ग्रहण कर लिया होता तो अब भी मनुष्य अन्नका वाणीद्वारा उच्चारण करके ही तृप्त हो जाते—अन्नका नाम लेनेमात्रसे उनका पेट भर जाता; परंतु ऐसा नहीं होता ॥ ३ ॥

तत्प्राणेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुं स यद्धै-नत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ४ ॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उस अन्नको; **प्राणेन**=प्राण-इन्द्रियके द्वारा;* **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा; (परंतु वह) **तत्**=उसको; **प्राणेन**=घ्राण-इन्द्रिय-द्वारा भी; **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=नहीं पकड़ सका; **यत्**=यदि; **सः**=वह;

---

* घ्राण-इन्द्रियका विषय गन्ध, वायु और प्राणके सहयोगसे ही उक्त इन्द्रियद्वारा ग्रहण होता है तथा घ्राण-इन्द्रियके निवासस्थान नासिकाछिद्रोंसे ही प्राणका आवागमन होता है। इसलिये यहाँ घ्राणेन्द्रियके ही स्थानमें 'प्राण' शब्द प्रयुक्त हुआ है, यह जान पड़ता है; क्योंकि अन्तमें प्राणके ही एक भेद अपानद्वारा अन्नका ग्रहण होना बताया गया है। अतः यहाँ प्राणसे ग्रहण न किया जाना माननेसे पूर्वापरविरोध आयेगा।

एनत्=इस अन्नको; **प्राणेन**=घ्राण-इन्द्रियद्वारा; **ह**=ही; **अग्रहैष्यत्**=पकड़ सकता; (तो अब भी मनुष्य) **ह**=अवश्य; **अन्नम्**=अन्नको; **अभिप्राण्य**=सूँघकर; **एव**=ही; **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ४ ॥

व्याख्या—तब उस पुरुषने अन्नको प्राणके द्वारा अर्थात् घ्राण-इन्द्रियके द्वारा पकड़ना चाहा; परंतु वह उसको घ्राण-इन्द्रियके द्वारा भी नहीं पकड़ सका। यदि वह इस अन्नको घ्राण-इन्द्रियद्वारा पकड़ सकता तो अब भी लोग अन्नको नाकसे सूँघकर ही तृप्त हो जाते; परंतु ऐसा नहीं देखा जाता ॥ ४ ॥

तच्चक्षुषाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुं स यद्धैनच्चक्षुषाग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ५ ॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उस अन्नको; **चक्षुषा**=आँखोंसे; **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा; (परंतु वह) **तत्**=उसको; **चक्षुषा**=आँखोंके द्वारा; **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=नहीं पकड़ सका; **यत्**=यदि; **सः**=वह; **एनत्**=इस अन्नको; **चक्षुषा**=आँखोंसे; **ह**= ही; **अग्रहैष्यत्**=पकड़ लेता तो; **ह**=अवश्य ही; (अब भी मनुष्य) **अन्नम्**= अन्नको; **दृष्ट्वा**=देखकर; **एव**=ही; **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ५ ॥

व्याख्या—फिर उस पुरुषने अन्नको आँखोंसे पकड़ना चाहा; परंतु वह उसको आँखोंके द्वारा भी नहीं पकड़ सका। यदि वह इस अन्नको आँखोंसे ग्रहण कर सकता तो अवश्य ही आजकल भी लोग अन्नको केवल देखकर ही तृप्त हो जाते; परंतु ऐसी बात नहीं देखी जाती ॥ ५ ॥

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुं स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ६ ॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उस अन्नको; **श्रोत्रेण**=कानोंद्वारा; **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा; (परंतु वह) **तत्**=उसको; **श्रोत्रेण**=कानोंद्वारा; **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=नहीं पकड़ सका; **यत्**=यदि; **सः**=वह; **एनत्**=इसको; **श्रोत्रेण**=कानोंद्वारा; **ह**=ही; **अग्रहैष्यत्**=पकड़ लेता तो; **ह**=निस्संदेह; (अब भी मनुष्य) **अन्नम्**=अन्नका नाम; **श्रुत्वा**=सुनकर; **एव**=ही; **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ६ ॥

व्याख्या—फिर उस पुरुषने अन्नको कानोंद्वारा पकड़ना चाहा; परंतु वह

****

उसको कानोंद्वारा भी नहीं पकड़ सका। यदि वह इसको कानोंसे पकड़ सकता तो अवश्य ही अब भी मनुष्य केवल अन्नका नाम सुनकर ही तृप्त हो जाते; परंतु यह देखनेमें नहीं आता ॥ ६ ॥

तत्त्वचाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुं स यद्धैन-त्वचाग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ७ ॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उसको; **त्वचा**=चमड़ीद्वारा; **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा; (परंतु) **तत्**=उसको; **त्वचा**=चमड़ीद्वारा; **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=नहीं पकड़ सका; **यत्**=यदि; **सः**=वह; **एनत्**=इसको; **त्वचा**=चमड़ीद्वारा; **ह**=ही; **अग्रहैष्यत्**=पकड़ सकता तो; **ह**=अवश्य ही; (अब भी मनुष्य) **अन्नम्**=अन्नको; **स्पृष्ट्वा**=छूकर; **एव**=ही; **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ७ ॥

व्याख्या—तब उस पुरुषने अन्नको चमड़ीद्वारा पकड़ना चाहा; परंतु वह उसको चमड़ीद्वारा भी नहीं पकड़ सका। यदि वह इसको चमड़ीद्वारा पकड़ पाता तो अवश्य ही आजकल भी मनुष्य अन्नको छूकर ही तृप्त हो जाते; परंतु ऐसी बात नहीं है ॥ ७ ॥

तन्मनसाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुं स यद्धै-नन्मनसाग्रहैष्यद्ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ८ ॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उसको; **मनसा**=मनसे; **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा; (परंतु) **तत्**=उसको; **मनसा**=मनसे भी; **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=नहीं पकड़ सका; **यत्**=यदि; **सः**=वह; **एनत्**=इसको; **मनसा**=मनसे; **ह**=ही; **अग्रहैष्यत्**=पकड़ लेता तो; **ह**=अवश्य ही; (मनुष्य) **अन्नम्**=अन्नको; **ध्यात्वा**=चिन्तन करके; **एव**=ही; **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ८ ॥

व्याख्या—तब उस पुरुषने अन्नको मनसे पकड़ना चाहा; परंतु वह उसको मनके द्वारा भी नहीं पकड़ सका। यदि वह इसको मनसे पकड़ पाता तो अवश्य ही आज भी मनुष्य अन्नका चिन्तन करके ही तृप्त हो जाते; परंतु ऐसी बात देखनेमें नहीं आती ॥ ८ ॥

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुं स यद्धै-

नच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ९ ॥

(फिर उस पुरुषने) **तत्**=उस अन्नको; **शिश्नेन**=उपस्थके द्वारा; **अजिघृक्षत्**=ग्रहण करना चाहा; (परंतु) **तत्**=उसको; **शिश्नेन**=उपस्थके द्वारा भी; **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=नहीं पकड़ सका; **यत्**=यदि; **सः**=वह; **एनत्**=इसको; **शिश्नेन**=उपस्थद्वारा; **ह**=ही; **अग्रहैष्यत्**=पकड़ पाता तो; **ह**=अवश्य ही; (मनुष्य) **अन्नम् विसृज्य**=अन्नका त्याग करके; **एव**=ही; **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ९ ॥

व्याख्या—फिर उस पुरुषने अन्नको उपस्थ (लिङ्ग) द्वारा पकड़ना चाहा; परंतु वह उसको उपस्थके द्वारा नहीं पकड़ सका। यदि वह उसको उपस्थद्वारा पकड़ पाता तो अवश्य ही अब भी मनुष्य अन्नका त्याग करके ही तृप्त हो जाते; परंतु यह देखनेमें नहीं आता ॥ ९ ॥

तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत् सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायुः ॥ १० ॥

(अन्तमें उसने) **तत्**=उस अन्नको; **अपानेन**=अपानवायुके द्वारा; **अजिघृक्षत्**=ग्रहण करना चाहा; (इस बार उसने) **तत्**=उसको; **आवयत्**=ग्रहण कर लिया; **सः**=वह; **एषः**=यह अपानवायु ही; **अन्नस्य**=अन्नका; **ग्रहः**=ग्रह अर्थात् ग्रहण करनेवाला है; **यत्**=जो; **वायुः**=वायु; **अन्नायुः**=अन्नसे जीवनकी रक्षा करनेवालेके रूपमें; **वै**=प्रसिद्ध है; **यत्**=जो; **एषः**=यह; **वायुः**=अपानवायु है (वही वह वायु है) ॥ १० ॥

व्याख्या—अन्तमें उस पुरुषने अन्नको मुखके द्वारसे अपानवायुद्वारा ग्रहण करना चाहा, अर्थात् अपानवायुद्वारा मुखसे शरीरमें प्रवेश करानेकी चेष्टा की; तब वह अन्नको अपने शरीरमें ले जा सका। वह अपानवायु जो बाहरसे शरीरके भीतर प्रश्वासके रूपमें जाता है, यही अन्नका ग्रह—उसको पकड़नेवाला अर्थात् भीतर ले जानेवाला है। प्राणवायुके सम्बन्धमें जो यह प्रसिद्धि है कि यही अन्नके द्वारा मनुष्यके जीवनकी रक्षा करनेवाला होनेसे साक्षात् आयु है, वह इस अपानवायुको लेकर ही है, जो प्राण आदि पाँच भेदोंमें विभक्त मुख्य प्राणका ही एक अंश है; इससे यह सिद्ध हुआ कि प्राण ही मनुष्यका जीवन है ॥ १० ॥

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ॥ ११ ॥

सः=(तब) उस (सृष्टिके रचयिता परमेश्वर) ने; **ईक्षत**=सोचा कि; **नु**=निश्चय ही; **इदम्**=यह; **मत् ऋते**=मेरे बिना; **कथम्**=किस प्रकार; **स्यात्**=रहेगा; **इति**=यह सोचकर; (पुनः) **सः**=उसने; **ईक्षत**=विचार किया कि; **यदि**=यदि; **वाचा**=(इस पुरुषने मेरे बिना ही केवल) वाणीद्वारा; **अभिव्याहृतम्**=बोलनेकी क्रिया कर ली; **यदि**=यदि; **प्राणेन**=घ्राण-इन्द्रियद्वारा; **अभिप्राणितम्**=सूँघनेकी क्रिया कर ली; **यदि**=यदि; **चक्षुषा**=नेत्रद्वारा; **दृष्टम्**=देख लिया; **यदि**=यदि; **श्रोत्रेण**=श्रवणेन्द्रियद्वारा; **श्रुतम्**=सुन लिया; **यदि**=यदि; **त्वचा**=त्वक्-इन्द्रियद्वारा; **स्पृष्टम्**=स्पर्श कर लिया; **यदि**=यदि; **मनसा**=मनद्वारा; **ध्यातम्**=मनन कर लिया; **यदि**=यदि; **अपानेन**=अपानद्वारा; **अभ्यपानितम्**=अन्नग्रहण आदि अपान-सम्बन्धी क्रिया कर ली; (तथा) **यदि**=यदि; **शिश्नेन**=उपस्थसे; **विसृष्टम्**=मूत्र और वीर्यका त्याग कर लिया; **अथ**=तो फिर, **अहम्**=मैं; **कः**=कौन हूँ; **इति**=यह सोचकर; (पुनः) **सः**=उसने; **ईक्षत**=विचार किया कि; **कतरेण**=(पैर और मस्तक—इन दोनोंमेंसे) किस मार्गसे; **प्रपद्यै इति**=मुझे इसमें प्रवेश करना चाहिये ॥ ११ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जब लोक और लोकपालोंकी रचना हो गयी, उन सबके लिये आहार भी उत्पन्न हो गया तथा मनुष्य-शरीरधारी पुरुषने उस आहारको ग्रहण करना भी सीख लिया, तब उस सर्वस्रष्टा परमात्माने फिर विचार किया—'यह मनुष्यरूप पुरुष मेरे बिना कैसे रहेगा ? यदि इस जीवात्माके साथ मेरा सहयोग नहीं रहेगा तो यह अकेला किस प्रकार टिक सकेगा ?* साथ

---

* इसीलिये तो भगवान्ने गीतामें कहा है कि समस्त भूतोंका जो कारण है, वह मैं हूँ। ऐसा कोई भी चराचर प्राणी नहीं है, जो मुझसे रहित हो (१० । ३९)।

ही यह भी विचार किया कि 'यदि मेरे सहयोगके बिना इस पुरुषने वाणीद्वारा बोलनेकी क्रिया कर ली, घ्राण-इन्द्रियसे सूँघनेका काम कर लिया, प्राणोंसे वायुको भीतर ले जाने और बाहर छोड़नेकी क्रिया कर ली, नेत्रोंद्वारा देख लिया, श्रवणेन्द्रियद्वारा सुन लिया, त्वक्-इन्द्रियद्वारा स्पर्श कर लिया, मनके द्वारा मनन कर लिया, अपानद्वारा अन्न निगल लिया और यदि जननेन्द्रियद्वारा मूत्र और वीर्यका त्याग करनेकी क्रिया सम्पन्न कर ली तो फिर मेरा क्या उपयोग रह गया ? भाव यह कि मेरे बिना इन सब इन्द्रियोंद्वारा कार्य सम्पन्न कर लेना इसके लिये असम्भव है !' यह सोचकर परमात्माने विचार किया कि मैं इस मनुष्य-शरीरमें पैर और मस्तक—इन दोमेंसे किस मार्गसे प्रविष्ट होऊँ ॥ ११ ॥

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्। तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः; अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥ १२ ॥

(यों विचारकर) **सः**=उसने; **एतम् एव**=इस (मनुष्य-शरीरकी); **सीमानम्**=सीमाको; **विदार्य**=चीरकर; **एतया द्वारा**=इसके द्वारा; **प्रापद्यत**=उस सजीव शरीरमें प्रवेश किया; **सा**=वह; **एषा**=यह; **द्वाः**=द्वार; **विदृतिः नाम**= विदृति नामसे प्रसिद्ध है; **तत्**= वही; **एतत्**=यह; **नान्दनम्**=आनन्द देनेवाला अर्थात् ब्रह्म-प्राप्तिका द्वार है; **तस्य**=उस परमेश्वरके; **त्रयः**=तीन; **आवसथाः**= आश्रय (उपलब्धि-स्थान) हैं; **त्रयः**=तीन; **स्वप्नाः**=स्वप्न हैं; **अयम्**=यह (हृदय-गुहा); **आवसथः**=एक स्थान है; **अयम्**=यह (परमधाम); **आवसथः**=दूसरा स्थान है; **अयम्**=यह (सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड); **आवसथः इति**=तीसरा स्थान है ॥ १२ ॥

व्याख्या—परमात्मा इस मनुष्य-शरीरकी सीमा (मूर्धा) को अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रको चीरकर (उसमें छेद करके) इसके द्वारा उस सजीव मनुष्य-शरीरमें प्रविष्ट हो गये। वह यह द्वार विदृति (विदीर्ण किया हुआ द्वार) नामसे प्रसिद्ध है। वही यह विदृति नामका द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) आनन्द देनेवाला अर्थात् आनन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है। परमेश्वरकी उपलब्धिके तीन स्थान हैं और स्वप्न

भी तीन हैं। एक तो यह हृदयाकाश उनकी उपलब्धिका स्थान है। दूसरा विशुद्ध आकाशरूप परमधाम है—जिसको सत्यलोक, गोलोक, ब्रह्मलोक, साकेतलोक, कैलास आदि अनेक नामोंसे पुकारा जाता है। तीसरा यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है तथा इस जगत्‌की जो स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप तीन अवस्थाएँ हैं, वे ही इसके तीन स्वप्न हैं॥ १२॥

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत्। इदमदर्शमिती३ ॥ १३ ॥

जातः सः=मनुष्यरूपमें प्रकट हुए उस पुरुषने; **भूतानि**=पञ्च महाभूतोंकी अर्थात् भौतिक जगत्‌की रचनाको; **अभिव्यैख्यत्**=चारों ओरसे देखा; (और) **इह**=यहाँ; **अन्यम्**=दूसरा; **किम्**=कौन है; **इति**=यह; **वावदिषत्**=कहा; **सः**=(तब) उसने; **एतम्**=इस; **पुरुषम्**=अन्तर्यामी परम पुरुषको; **एव**=ही; **ततमम्**=सर्वव्यापी; **ब्रह्म**=परब्रह्मके रूपमें; **अपश्यत्**=देखा; (और यह प्रकट किया) **[अहो] इती ३**=अहो! बड़े सौभाग्यकी बात है कि; **इदम्**=इस परब्रह्म परमात्माको; **अदर्शम्**=मैंने देख लिया॥ १३॥

व्याख्या—मनुष्यरूपमें उत्पन्न हुए उस पुरुषने इस भौतिक जगत्‌की विचित्र रचनाको बड़े आश्चर्यपूर्वक चारों ओरसे देखा और मन-ही-मन इस प्रकार कहा—'इस विचित्र जगत्‌की रचना करनेवाला यहाँ दूसरा कौन है? क्योंकि यह मेरी की हुई रचना तो है नहीं और कार्य होनेके कारण इसका कोई-न-कोई कर्ता अवश्य होना चाहिये।' इस प्रकार विचार करनेपर उस साधकने अपने हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान पुरुषको ही इस सम्पूर्ण जगत्‌में व्याप्त परब्रह्मके रूपमें प्रत्यक्ष किया। तब वह आनन्दमें भरकर मन-ही-मन कहने लगा—'अहो! बड़े ही सौभाग्यकी बात है कि मैंने परब्रह्म परमात्माको देख लिया—साक्षात् कर लिया।'

इससे यह भाव प्रकट किया गया है कि इस जगत्‌की विचित्र रचनाको देखकर इसके कर्ता-धर्ता परमात्माकी सत्तामें विश्वास करके यदि मनुष्य उन्हें जानने और पानेको उत्सुक हो, उन्हींपर निर्भर होकर चेष्टा करे तो अवश्य ही

उन्हें जान सकता है। परमात्माको जानने और पानेका काम इस मनुष्य-शरीरमें ही हो सकता है, दूसरे शरीरमें नहीं। अतः मनुष्यको अपने जीवनके अमूल्य समयका सदुपयोग करना चाहिये, उसे व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये। इस अध्यायमें मानो परमात्माकी महिमाका और मनुष्य-शरीरके महत्त्वका दिग्दर्शन करानेके लिये ही सृष्टि-रचनाका वर्णन किया गया है॥ १३॥

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥ १४ ॥

तस्मात्=इसीलिये; **इदन्द्रः नाम**=वह 'इदन्द्र' नामवाला है; **ह**=वास्तवमें; **इदन्द्रः नाम वै**=वह 'इदन्द्र' नामवाला ही है; (परंतु) **इदन्द्रम्**=इदन्द्र; **सन्तम्**=होते हुए ही; **तम्**=उस परमात्माको; **परोक्षेण**=परोक्षभावसे (गुप्त नामसे); **इन्द्रः**='इन्द्र'; **इति**=यों; **आचक्षते**=पुकारते हैं; **हि**=क्योंकि; **देवाः**=देवतालोग; **परोक्षप्रियाः इव**=मानो परोक्षभावसे कही हुई बातको पसंद करनेवाले होते हैं; **हि देवाः परोक्षप्रियाः इव**=देवतालोग मानो परोक्षभावसे कही हुई बातोंको ही पसंद करनेवाले होते हैं॥ १४॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्माको उस मनुष्य-शरीरमें उत्पन्न हुए पुरुषने पूर्वोक्त प्रकारसे प्रत्यक्ष कर लिया, इसी कारण परमात्माका नाम 'इदन्द्र' है। अर्थात् '**इदम् द्रः**= इसको मैंने देख लिया' इस व्युत्पत्तिके अनुसार उसका 'इदन्द्र' नाम है। इस प्रकार यद्यपि उस परमात्माका नाम 'इदन्द्र' ही है, फिर भी लोग इसे परोक्षभावसे 'इन्द्र' कहकर पुकारते हैं; क्योंकि देवता लोग मानो छिपाकर ही कुछ कहना पसंद करते हैं। '**परोक्षप्रिया इव हि देवाः**' इस अन्तिम वाक्यको दुबारा कहकर इस खण्डकी समाप्ति सूचित की गयी है॥ १४॥

॥ तृतीय खण्ड समाप्त ॥ ३ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥



ॐ

द्वितीय अध्याय

प्रथम खण्ड

सम्बन्ध—*प्रथम अध्यायमें सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम और मनुष्य-शरीरका महत्त्व बताया गया और यह बात भी संकेतसे कही गयी कि जीवात्मा इस शरीरमें परमात्माको जानकर कृतकृत्य हो सकता है। अब इस शरीरकी अनित्यता दिखाकर वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये इस अध्यायमें मनुष्य-शरीरकी उत्पत्तिका वर्णन किया जाता है—*

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद्रेतस्तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥ १ ॥

अयम्=यह (संसारी जीव); **ह**=निश्चयपूर्वक; **आदितः**=पहले-पहल; **पुरुषे**=पुरुष-शरीरमें; **वै**=ही; **गर्भः भवति**=वीर्यरूपसे गर्भ बनता है; **यत्**=जो; **एतत्**=यह (पुरुषमें); **रेतः**=वीर्य है; **तत्**=वह; **एतत्**=यह; (पुरुषके) **सर्वेभ्यः**=सम्पूर्ण; **अङ्गेभ्यः**=अङ्गोंसे; **सम्भूतम्**=उत्पन्न हुआ; **तेजः**=तेज है; **आत्मानम्**=(यह पुरुष पहले तो) अपने ही स्वरूपभूत इस वीर्यमय तेजको; **आत्मनि**=अपने शरीरमें; **एव**=ही; **बिभर्ति**=धारण करता है; (फिर) **यदा**=जब; (यह) **तत्**=उसको; **स्त्रियाम्**=स्त्रीमें; **सिञ्चति**=सिंचन करता है; **अथ**=तब; **एनत्**=इसको; **जनयति**=गर्भरूपमें उत्पन्न करता है; **तत्**=वह; **अस्य**=इसका; **प्रथमम्**=पहला; **जन्म**=जन्म है ॥ १ ॥

व्याख्या—यह संसारी जीव पहले-पहल पुरुष-शरीरमें (पिताके शरीरमें) वीर्यरूपसे गर्भ बनता है—प्रकट होता है। पुरुषके शरीरमें जो यह वीर्य है, वह सम्पूर्ण अङ्गोंमेंसे निकलकर उत्पन्न हुआ तेज (सार) है। यह पिता अपने स्वरूपभूत उस वीर्यरूप तेजको पहले तो अपने शरीरमें ही धारण-पोषण

करता है—ब्रह्मचर्यके द्वारा बढ़ाता एवं पुष्ट करता है; फिर जब यह उसको स्त्रीके गर्भाशयमें सिञ्चन (स्थापित) करता है, तब इसे गर्भरूपमें उत्पन्न करता है। वह माताके शरीरमें प्रवेश करना ही इसका पहला जन्म है ॥ १ ॥

तत्स्त्रिया आत्मभूतं गच्छति। यथा स्वमङ्गं तथा। तस्मादेनां न हिनस्ति। सास्यैतमात्मानमत्रगतं भावयति ॥ २ ॥

तत्=वह (गर्भ); **स्त्रियाः**=स्त्रीके; **आत्मभूतम्**=आत्मभावको; **गच्छति**=प्राप्त हो जाता है; **यथा**=जैसे; **स्वम्**=अपना; **अङ्गम्**=अङ्ग होता है; **तथा**=वैसे ही (हो जाता है); **तस्मात्**=इसी कारणसे; **एनाम्**=इस स्त्रीको; **न हिनस्ति**=वह पीड़ा नहीं देता; **सा**=वह स्त्री (माता); **अत्रगतम्**=यहाँ (अपने शरीरमें) आये हुए; **अस्य**=इस (अपने पति) के; **आत्मानम्**=आत्मारूप (स्वरूपभूत); **एतम् भावयति**=इस गर्भका पालन-पोषण करती है ॥ २ ॥

व्याख्या—उस स्त्री (माता) के शरीरमें आया हुआ वह गर्भ—पिताके द्वारा स्थापित किया हुआ तेज उस स्त्रीके आत्मभावको प्राप्त हो जाता है—अर्थात् जैसे उसके दूसरे अङ्ग हैं, उसी प्रकार वह गर्भ भी उसके शरीरका एक अङ्ग-सा ही हो जाता है। यही कारण है कि वह गर्भ उस स्त्रीके उदरमें रहता हुआ भी गर्भिणी स्त्रीको पीड़ा नहीं पहुँचाता—उसे भाररूप नहीं प्रतीत होता। वह स्त्री अपने शरीरमें आये हुए अपने पतिके आत्मारूप इस गर्भको अपने अङ्गोंकी भाँति ही भोजनके रससे पुष्ट करती है और अन्य सब प्रकारके आवश्यक नियमोंका पालन करके उसकी भलीभाँति रक्षा करती है ॥ २ ॥

सा भावयित्री भावयितव्या भवति। तं स्त्री गर्भं बिभर्ति। सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति। स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां संतत्या। एवं संतता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म ॥ ३ ॥

सा=वह; **भावयित्री**=उस गर्भका पालन-पोषण करनेवाली स्त्री; **भावयितव्या**=पालन-पोषण करनेयोग्य; **भवति**=होती है; **तम् गर्भम्**=उस गर्भको; **अग्रे**=प्रसवके पहलेतक; **स्त्री**=स्त्री (माता); **बिभर्ति**=धारण करती है; **जन्मनः अधि**=(फिर) जन्म लेनेके बाद; **सः**=वह (उसका पिता); **अग्रे**=पहले; **एव**=ही; **कुमारम्**=उस कुमारको; (जातकर्म आदि संस्कारोंद्वारा) **भावयति**=अभ्युदयशील बनाता तथा उसकी उन्नति करता है; **सः**=वह (पिता); **यत्**=जो; **जन्मनः अधि**=जन्म लेनेके बाद; **अग्रे [एव]**=पहले ही; **कुमारम् भावयति**=बालककी उन्नति करता है; **तत्**=वह (मानो); **एषाम्**=इन; **लोकानाम्**=लोकोंको (मनुष्योंको); **संतत्या**=बढ़ानेके द्वारा; **आत्मानम् एव भावयति**=अपनी ही उन्नति करता है; **हि**=क्योंकि; **एवम्**=इसी प्रकार; **इमे**=ये सब; **लोकाः**=लोक (मनुष्य); **संतताः**=विस्तारको प्राप्त हुए हैं; **तत्**=वह; **अस्य**=इसका; **द्वितीयम्**=दूसरा; **जन्म**=जन्म है ॥ ३ ॥

व्याख्या—अपने पतिके आत्मस्वरूप उस गर्भकी सब प्रकारसे रक्षा करनेवाली गर्भिणी स्त्री घरके लोगोंद्वारा और विशेषतः उसके पतिद्वारा पालन-पोषण करनेयोग्य होती है। अर्थात् घरके लोगोंका और पतिका यह परम आवश्यक कर्तव्य है कि वे सब मिलकर उसके खान-पान और रहन-सहनकी सुव्यवस्था करके सब प्रकारसे उसकी सँभाल रखें। उस गर्भको पहले अर्थात् प्रसव होनेतक तो स्त्री (माता) अपने शरीरमें धारण करती है; फिर जन्म लेनेके बाद—जन्म लेते ही उसका पिता जातकर्म आदि संस्कारोंसे और नाना प्रकारके उपचारोंसे उस कुमारको अभ्युदयशील बनाता है और जन्मसे लेकर जबतक वह सर्वथा योग्य नहीं बन जाता, तबतक हर प्रकारसे उसका पालन-पोषण करता है—नाना प्रकारकी विद्या और शिल्पादिका अध्ययन कराके उसे सब प्रकारसे उन्नत बनाता है। वह पिता जन्मके बाद उस बालकको उपयुक्त बना देनेके पहले-पहले जो उसकी रक्षा करता है, उसे सब प्रकारसे योग्य बनाता है, वह मानो इन लोकोंको अर्थात् मनुष्योंकी

परम्पराको बढ़ानेके द्वारा अपनी ही रक्षा करता है; क्योंकि इसी प्रकार एक-से-एक उत्पन्न होकर ये सब मनुष्य विस्तारको प्राप्त हुए हैं। यह जो इस जीवका गर्भसे बाहर आकर बालकरूपमें उत्पन्न होना है, वह इसका दूसरा जन्म है।

इस वर्णनसे पिता और पुत्र दोनोंको अपने-अपने कर्तव्यकी शिक्षा दी गयी है। पुत्रको तो यह समझना चाहिये कि उसपर अपने माता-पिताका बड़ा भारी उपकार है; अतः वह उनकी जितनी सेवा कर सके, थोड़ी है और पिताको इस प्रकारका अभिमान नहीं करना चाहिये कि मैंने इसका उपकार किया है, वरं यह समझना चाहिये कि मैंने अपनी ही वृद्धि करके अपने कर्तव्यका पालन किया है॥ ३॥

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः प्रतिधीयते। अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति। स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म॥ ४॥

सः=वह (पुत्ररूपमें उत्पन्न हुआ); **अयम्**=यह; **आत्मा**=(पिताका ही) आत्मा; **अस्य**=इस पिताके (द्वारा आचरणीय); **पुण्येभ्यः**=शुभकर्मोंके लिये; **प्रतिधीयते**=उसका प्रतिनिधि बना दिया जाता है; **अथ**=उसके अनन्तर; **अस्य**=इस (पुत्र) का; **अयम्**=यह (पितारूप); **इतरः**=दूसरा; **आत्मा**=आत्मा; **कृतकृत्यः**=अपना कर्तव्य पूरा करके; **वयोगतः**=आयु पूरी होनेपर; **प्रैति**=मरकर (यहाँसे) चला जाता है; **सः**=वह; **इतः**=यहाँसे; **प्रयन्**=जाकर; **एव**=ही; **पुनः**=पुनः; **जायते**=उत्पन्न हो जाता है; **तत्**=वह; **अस्य**=इसका; **तृतीयम्**=तीसरा; **जन्म**=जन्म है॥ ४॥

व्याख्या—पूर्वोक्त प्रकारसे इस पिताका ही आत्मस्वरूप पुत्र जब कार्य करनेयोग्य हो जाता है, तब वह पिता उसको अपना प्रतिनिधि बना देता है—अग्निहोत्र, देवपूजा और अतिथि-सेवा आदि वैदिक और लौकिक जितने भी शुभकर्म हैं, उन सबका भार पुत्रको सौंप देता है। गृहस्थका पूरा

दायित्व पुत्रपर छोड़कर स्वयं कृतकृत्य हो जाता है अर्थात् अपनेको पितृ-ऋणसे मुक्त मानता है। उसके बाद इस शरीरकी आयु पूर्ण होनेपर जब वह (पिता) इसे छोड़कर यहाँसे विदा हो जाता है, तब यहाँसे जाकर दूसरी जगह कर्मानुसार जहाँ जिस योनिमें जन्म लेता है, वह इसका तीसरा जन्म है। इसी तरह यह जन्म-जन्मान्तरकी परम्परा चलती रहती है।

जबतक जन्म-मृत्युके महान् कष्टका विचार करके इससे छुटकारा पानेके लिये जीवात्मा मनुष्य-शरीरमें चेष्टा नहीं करता, तबतक यह परम्परा नहीं टूटती। अतः इसके लिये मनुष्यको अवश्य चेष्टा करनी चाहिये। यही इस प्रकरणका उद्देश्य प्रतीत होता है॥ ४॥

सम्बन्ध—*इस प्रकार बार-बार जन्म लेना और मरना एक भयानक यन्त्रणा है; और जबतक यह जीव इस रहस्यको समझकर इस शरीररूप पिंजरेको काटकर इससे सर्वथा अलग न हो जायगा तबतक इसका इस जन्म-मृत्युरूप यन्त्रणासे छुटकारा नहीं होगा—यह भाव अगले दो मन्त्रोंमें वामदेव ऋषिके दृष्टान्तसे समझाया जाता है—*

तदुक्तमृषिणा—

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति। गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच॥ ५॥*

तत्=वही बात (इस प्रकार); **ऋषिणा**=ऋषिद्वारा; **उक्तम्**=कही गयी है; **नु**=अहो; **अहम्**=मैंने; **गर्भे**=गर्भमें; **सन्**=रहते हुए ही; **एषाम्**=इन; **देवानाम्**=देवताओंके; **विश्वा**=बहुत-से; **जनिमानि**=जन्मोंको; **अन्ववेदम्**=भलीभाँति जान लिया; **अधः**=तत्त्वज्ञान होनेसे पूर्व; **मा**=मुझे; **शतम्**=सैकड़ों; **आयसीः**=लोहेके समान कठोर; **पुरः**=शरीरोंने; **अरक्षन्**=अवरुद्ध कर रखा था; (अब मैं) **श्येनः**=बाज पक्षी (की भाँति); **जवसा**=वेगसे;

* यह मन्त्र ऋग्वेद (४। २७। १) में है।

निरदीयम् इति=उन सबको तोड़कर उनसे अलग हो गया हूँ; **गर्भे एव**=गर्भमें ही; **शयानः**=सोये हुए; **वामदेवः**=वामदेव ऋषिने; **एवम्**=उक्त प्रकारसे; **एतत्**=यह बात; **उवाच**=कही ॥ ५ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त चार मन्त्रोंमें कही हुई बातका ही रहस्य यहाँ ऋषिद्वारा बताया गया है। गर्भमें रहते हुए ही अर्थात् गर्भके बाहर आनेसे पहले ही वामदेव ऋषिको यथार्थ ज्ञान हो गया था, इसलिये उन्होंने माताके उदरमें ही कहा था—'अहो ! कितने आश्चर्य और आनन्दकी बात है कि गर्भमें रहते-रहते ही मैंने इन अन्तःकरण और इन्द्रियरूप देवताओंके अनेक जन्मोंका रहस्य भलीभाँति जान लिया। अर्थात् मैं इस बातको जान गया कि ये जन्म आदि वास्तवमें इन अन्तःकरण और इन्द्रियोंके ही होते हैं, आत्माके नहीं। इस रहस्यको समझनेसे पहले मुझे सैकड़ों लोहेके समान कठोर शरीररूपी पिंजरोंने अवरुद्ध कर रखा था। उनमें मेरी ऐसी दृढ़ अहंता हो गयी थी कि उससे छूटना मेरे लिये कठिन हो रहा था। अब मैं बाज पक्षीकी भाँति ज्ञानरूप बलके वेगसे उन सबको तोड़कर उनसे अलग हो गया हूँ। उन शरीररूप पिंजरोंसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहा, मैं सदाके लिये उन शरीरोंकी अहंतासे मुक्त हो गया हूँ' ॥ ५ ॥

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वामृतः समभवत् समभवत् ॥ ६ ॥

एवम्=इस प्रकार; **विद्वान्**=(जन्म-जन्मान्तरके रहस्यको) जाननेवाला; **सः**=वह वामदेव ऋषि; **अस्मात्**=इस; **शरीरभेदात्**=शरीरका नाश होनेपर; **ऊर्ध्वः उत्क्रम्य**=संसारके ऊपर उठ गया और ऊर्ध्वगतिके द्वारा; **अमुष्मिन्**=उस; **स्वर्गे लोके**=परमधाममें (पहुँचकर); **सर्वान्**=समस्त; **कामान्**=कामनाओंको; **आप्त्वा**=प्राप्त करके; **अमृतः**=अमृत; **समभवत्**=हो गया; **समभवत्**=हो गया ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जन्म-जन्मान्तरके तत्त्वको जाननेवाला अर्थात् जबतक यह जीव इन शरीरोंके साथ एक हुआ रहता है, शरीरको ही अपना स्वरूप माने रहता है, तबतक इसका जन्म-मृत्युसे छुटकारा नहीं होता, इसको बार-बार नाना योनियोंमें जन्म लेकर नाना प्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं—इस रहस्यको समझनेवाला वह ज्ञानी वामदेव ऋषि गर्भसे बाहर आकर अन्तमें शरीरका नाश होनेपर संसारसे ऊपर उठ गया तथा ऊर्ध्वगतिके द्वारा भगवान्‌के परमधाममें पहुँचकर वहाँ समस्त कामनाओंको पाकर अर्थात् सर्वथा आप्तकाम होकर अमृत हो गया ! अमृत हो गया। जन्म-मृत्युके चक्रसे सदाके लिये छूट गया। **'समभवत्'** पदको दुहराकर यहाँ अध्यायकी समाप्तिको सूचित किया गया है॥ ६॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥



ॐ

तृतीय अध्याय

प्रथम खण्ड

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे। कतरः स आत्मा, येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥ १ ॥

वयम्=हमलोग; **उपास्महे**=जिसकी उपासना करते हैं; **[सः]**=वह; **अयम्**=यह; **आत्मा**=आत्मा; **कः इति**=कौन है; **वा**=अथवा; **येन**=जिससे; **पश्यति**=मनुष्य देखता है; **वा**=या; **येन**=जिससे; **शृणोति**=सुनता है; **वा**=अथवा; **येन**=जिससे; **गन्धान्**=गन्धोंको; **आजिघ्रति**=सूँघता है; **वा**=अथवा; **येन**=जिससे; **वाचम्**=वाणीको; **व्याकरोति**=स्पष्ट बोलता है; **वा**=या; **येन**=जिससे; **स्वादु**=स्वादयुक्त; **च**=और; **अस्वादु**=स्वादहीन वस्तुको; **च**=भी; **विजानाति**=अलग-अलग जानता है; **सः**=वह; **आत्मा**=आत्मा; **कतरः**=(पिछले अध्यायोंमें कहे हुए दो आत्माओंमेंसे) कौन है* ॥ १ ॥

व्याख्या—इस उपनिषद्के पहले और दूसरे अध्यायोंमें दो आत्माओंका वर्णन आया है—एक तो वह आत्मा (परमात्मा), जिसने इस सृष्टिकी रचना की और सजीव पुरुषको प्रकट करके उसका सहयोग देनेके लिये स्वयं उनमें प्रविष्ट हुआ; दूसरा वह आत्मा (जीवात्मा), जिसको सजीव पुरुषरूपमें परमात्माने प्रकट किया था और जिसके जन्म-जन्मान्तरकी परम्पराका वर्णन दूसरे अध्यायमें गर्भमें आनेसे लेकर मरणपर्यन्त किया गया है। इनमेंसे उपास्य देव कौन है, वह कैसा है, उसकी क्या पहचान है—इन बातोंका निर्णय करनेके लिये यह तीसरा अध्याय कहा गया है।

---

* केनोपनिषद्के आरम्भकी इसके साथ बहुत अंशोंमें समानता है।

मन्त्रका तात्पर्य यह है कि उस उपास्यदेव परमात्माके तत्त्वको जाननेकी इच्छावाले कुछ मनुष्य आपसमें विचार करने लगे—'जिसकी हमलोग उपासना करते हैं अर्थात् जिसकी उपासना करके हमें उसे प्राप्त करना चाहिये, वह आत्मा कौन है ? दूसरे शब्दोंमें जिसके सहयोगसे मनुष्य नेत्रोंके द्वारा समस्त दृश्य देखता है, जिससे कानोंद्वारा शब्द सुनता है, जिससे घ्राणेन्द्रियके द्वारा नाना प्रकारकी गन्ध सूँघता है, जिससे वाणीद्वारा वचन बोलता है; जिससे रसनाद्वारा स्वादयुक्त और स्वादहीन वस्तुको अलग-अलग पहचान लेता है, वह पहले और दूसरे अध्यायमें वर्णित दो आत्माओंमेंसे कौन है ? ॥ १ ॥

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥ २ ॥

यत्=जो; **एतत्**=यह; **हृदयम्**=हृदय है; **एतत्**=यही; **मनः**=मन; **च**=भी है; **संज्ञानम्**=सम्यक् ज्ञान-शक्ति; **आज्ञानम्**=आज्ञा देनेकी शक्ति; **विज्ञानम्**=विभिन्न रूपसे जाननेकी शक्ति; **प्रज्ञानम्**=तत्काल जाननेकी शक्ति; **मेधा**=धारण करनेकी शक्ति; **दृष्टिः**=देखनेकी शक्ति; **धृतिः**=धैर्य; **मतिः**=बुद्धि; **मनीषा**=मनन-शक्ति; **जूतिः**=वेग; **स्मृतिः**=स्मरण-शक्ति; **संकल्पः**=संकल्प-शक्ति; **क्रतुः**=मनोरथ-शक्ति; **असुः**=प्राण-शक्ति; **कामः**=कामना-शक्ति; **वशः**=स्त्री-संसर्ग आदिकी अभिलाषा; **इति**=इस प्रकार; **एतानि**=ये; **सर्वाणि**=सब-के-सब; **प्रज्ञानस्य**=स्वच्छ ज्ञानस्वरूप परमात्माके; **एव**=ही; **नामधेयानि**=नाम अर्थात् उसकी सत्ताके बोधक लक्षण; **भवन्ति**=हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—इस प्रकार विचार उपस्थित करके उन्होंने सोचा कि जो यह हृदय अर्थात् अन्तःकरण है, यही पहले बताया हुआ मन है, इस मनकी जो यह सम्यक् प्रकारसे जाननेकी शक्ति देखनेमें आती है— अर्थात् जो दूसरोंपर आज्ञाद्वारा शासन करनेकी शक्ति, पदार्थोंका अलग-अलग विवेचन करके जाननेकी शक्ति, देखे-सुने हुए पदार्थोंको तत्काल समझ लेनेकी शक्ति, अनुभवको धारण करनेकी शक्ति, देखनेकी शक्ति, धैर्य अर्थात् विचलित न

होनेकी शक्ति, बुद्धि अर्थात् निश्चय करनेकी शक्ति, मनन करनेकी शक्ति, वेग अर्थात् क्षणभरमें कहीं-से-कहीं चले जानेकी शक्ति, स्मरण-शक्ति, संकल्प-शक्ति, मनोरथ-शक्ति, प्राण-शक्ति, कामना-शक्ति और स्त्री-सहवास आदिकी अभिलाषा—इस प्रकार जो ये शक्तियाँ हैं, वे सब-की-सब उस स्वच्छ ज्ञानस्वरूप परमात्माके नाम हैं अर्थात् उसकी सत्ताका बोध करानेवाले लक्षण हैं; इन सबको देखकर इन सबके रचयिता, संचालक और रक्षककी सर्वव्यापिनी सत्ताका ज्ञान होता है ॥ २ ॥

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम्। प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ ३ ॥

एषः=यह; **ब्रह्मा**=ब्रह्मा है; **एषः**=यह; **इन्द्रः**=इन्द्र है; **एषः**=यही; **प्रजापतिः**=प्रजापति है; **एते**=ये; **सर्वे**=समस्त; **देवाः**=देवता; **च**=तथा; **इमानि**=ये; **पृथिवी**=पृथ्वी; **वायुः**=वायु; **आकाशः**=आकाश; **आपः**=जल; (और) **ज्योतींषि**=तेज; **इति**=इस प्रकार; **एतानि**=ये; **पञ्च**=पाँच; **महाभूतानि**=महाभूत; **च**=तथा; **इमानि**=ये; **क्षुद्रमिश्राणि इव**=छोटे-छोटे, मिले हुए-से; **बीजानि**=बीजरूप समस्त प्राणी; **च**=और; **इतराणि**=इनसे भिन्न; **इतराणि**=दूसरे; **च**=भी; **अण्डजानि**=अंडेसे उत्पन्न होनेवाले; **च**=एवं; **जारुजानि**=जेरसे उत्पन्न होनेवाले; **च**=तथा; **स्वेदजानि**=पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले; **च**=और; **उद्भिज्जानि**=जमीन फोड़कर उत्पन्न होनेवाले; **च**=तथा; **अश्वाः**=घोड़े; **गावः**=गायें; **हस्तिनः**=हाथी; **पुरुषाः**=मनुष्य (ये सब-के-सब मिलकर); **यत् किम् च**=जो कुछ भी; **इदम्**=यह जगत् है; **यत् च**=जो भी कोई; **पतत्रि**=पाँखोंवाला; **च**=और; **जङ्गमम्**=चलने-फिरनेवाला; **च**=और; **स्थावरम्**=नहीं चलनेवाला; **प्राणि**=प्राणिसमुदाय है; **तत् सर्वम्**=वह सब; **प्रज्ञानेत्रम्**=प्रज्ञानस्वरूप

परमात्मासे शक्ति पाकर ही अपने-अपने कार्यमें समर्थ होनेवाले हैं (और); **प्रज्ञाने**=उस प्रज्ञानस्वरूप परमात्मामें ही; **प्रतिष्ठितम्**=स्थित हैं; **लोकः**=(यह समस्त) ब्रह्माण्ड; **प्रज्ञानेत्रः**=प्रज्ञानस्वरूप परमात्मासे ही ज्ञान-शक्तियुक्त है; **प्रज्ञा**=प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा ही; **प्रतिष्ठा**=इस स्थितिका आधार है; **प्रज्ञानम्**=यह प्रज्ञान ही; **ब्रह्म**=ब्रह्म है ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस प्रकार विचार करके उन्होंने निश्चय किया कि सबको उत्पन्न करके सब प्रकारकी शक्ति प्रदान करनेवाले और उनकी रक्षा करनेवाले स्वच्छ ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही उपास्यदेव हैं। ये ही ब्रह्मा हैं, ये ही पहले अध्यायमें वर्णित इन्द्र हैं। ये ही सबकी उत्पत्ति और पालन करनेवाले समस्त प्रजाओंके स्वामी प्रजापति हैं। ये सब इन्द्रादि देवता, ये पाँचों महाभूत—जो पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेजके रूपमें प्रकट हैं—तथा ये छोटे-छोटे मिले हुए-से बीजरूपमें स्थित समस्त प्राणी तथा उनसे भिन्न दूसरे भी— अर्थात् अंडेसे उत्पन्न होनेवाले, जेरसे उत्पन्न होनेवाले, पसीनेसे अर्थात् शरीरके मैलसे उत्पन्न होनेवाले और जमीन फोड़कर उत्पन्न होनेवाले तथा घोड़े, गाय, हाथी, मनुष्य—ये सब मिलकर जो कुछ यह जगत् है; जो भी कोई पंखोंवाले तथा चलने-फिरनेवाले और नहीं चलनेवाले जीवोंके समुदाय हैं—वे सब-के-सब प्राणी प्रज्ञानस्वरूप परमात्मासे शक्ति पाकर ही अपने-अपने कार्यमें समर्थ होते हैं और उन प्रज्ञानस्वरूप परमात्मामें ही स्थित हैं। यह समस्त ब्रह्माण्ड प्रज्ञानस्वरूप परमात्माकी शक्तिसे ही ज्ञान-शक्तियुक्त है। इसकी स्थितिके आधार प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा ही हैं। अतः जिनको पहले इन्द्र और प्रजापतिके नामसे कहा गया है, जो सबकी रचना और रक्षा करनेवाले तथा सबको सब प्रकारकी शक्ति देनेवाले प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा हैं, वे ही हमारे उपास्यदेव ब्रह्म हैं—यह निश्चय हुआ ॥ ३ ॥

स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत्समभवत् ॥ ४ ॥

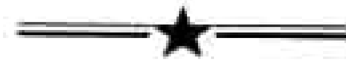
सः=वह; **अस्मात्**=इस; **लोकात्**=लोकसे; **उत्क्रम्य**=ऊपर उठकर;

अमुष्मिन्=उस; **स्वर्गे लोके**=परम धाममें; **एतेन**=इस; **प्रज्ञेन आत्मना**=प्रज्ञान-स्वरूप ब्रह्मके सहित; **सर्वान्**=सम्पूर्ण; **कामान्**=दिव्य भोगोंको; **आप्त्वा**=प्राप्त होकर; **अमृतः**=अमर; **समभवत्**=हो गया; **समभवत्**=हो गया ॥ ४ ॥

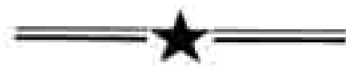
व्याख्या—जिसने इस प्रकार प्रज्ञानस्वरूप परमेश्वरको जान लिया, वह इस लोकसे ऊपर उठकर अर्थात् शरीरका त्याग करके उस परमानन्दमय परम धाममें, जिसके स्वरूपका पूर्वमन्त्रमें वर्णन किया गया है, इस प्रज्ञानस्वरूप ब्रह्मके साथ सम्पूर्ण दिव्य अलौकिक भोगरूप परम आनन्दको प्राप्त होकर अमर हो गया अर्थात् सदाके लिये जन्म-मृत्युसे छूट गया। '**समभवत्**' (हो गया)—इस वाक्यकी पुनरुक्ति उपनिषद्की समाप्ति सूचित करनेके लिये की गयी है ॥ ४ ॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥



॥ ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषद् समाप्त ॥

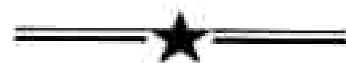


शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठित-माविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ इस उपनिषद्के प्रारम्भमें दिया जा चुका है।



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

तैत्तिरीयोपनिषद्

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखाके अन्तर्गत तैत्तिरीय आरण्यकका अङ्ग है। तैत्तिरीय आरण्यकके दस अध्याय हैं। उनमेंसे सातवें, आठवें और नवें अध्यायोंको ही तैत्तिरीय उपनिषद् कहा जाता है।

शान्तिपाठ

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इसका अर्थ आगे प्रथम अनुवाकमें दिया गया है।

शीक्षा-वल्ली*

प्रथम अनुवाक

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु।

---

* इस प्रकरणमें दी हुई शिक्षाके अनुसार अपना जीवन बना लेनेवाला मनुष्य इस लोक और परलोकके सर्वोत्तम फलको पा सकता है और ब्रह्मविद्याको ग्रहण करनेमें समर्थ हो जाता है—इस भावको समझानेके लिये इस प्रकरणका नाम शीक्षा-वल्ली रखा गया है।

तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।*

ॐ इस परमेश्वरके नामका स्मरण करके उपनिषद्का आरम्भ किया जाता है। **नः**=हमारे लिये; **मित्रः**=(दिन और प्राणके अधिष्ठाता) मित्र देवता; **शम् [भवतु]**=कल्याणप्रद हों (तथा); **वरुणः**=(रात्रि और अपानके अधिष्ठाता) वरुण (भी); **शम् [भवतु]**=कल्याणप्रद हों; **अर्यमा**=(चक्षु और सूर्य-मण्डलके अधिष्ठाता) अर्यमा; **नः**=हमारे लिये; **शम् भवतु**=कल्याणकारी हों; **इन्द्रः**=(बल और भुजाओंके अधिष्ठाता) इन्द्र (तथा); **बृहस्पतिः**=(वाणी और बुद्धिके अधिष्ठाता) बृहस्पति (दोनों); **नः**=हमारे लिये; **शम् [भवताम्]**=शान्ति प्रदान करनेवाले हों; **उरुक्रमः**=त्रिविक्रमरूपसे विशाल डगोंवाले; **विष्णुः**=विष्णु (जो पैरोंके अधिष्ठाता हैं); **नः**=हमारे लिये; **शम् [भवतु]**=कल्याणकारी हों; **ब्रह्मणे**=(उपर्युक्त सभी देवताओंके आत्मस्वरूप) ब्रह्मके लिये; **नमः**=नमस्कार है; **वायो**=हे वायुदेव; **ते**=तुम्हारे लिये; **नमः**=नमस्कार है; **त्वम् एव**=तुम ही; **प्रत्यक्षम्**=प्रत्यक्ष (प्राणरूपसे प्रतीत होनेवाले); **ब्रह्म असि**=ब्रह्म हो (इसलिये मैं); **त्वाम् एव**=तुमको ही; **प्रत्यक्षम्**=प्रत्यक्ष; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **वदिष्यामि**=कहूँगा; **ऋतम्**=(तुम ऋतके अधिष्ठाता हो, इसलिये मैं तुम्हें) ऋत नामसे; **वदिष्यामि**=पुकारूँगा; **सत्यम्**=(तुम सत्यके अधिष्ठाता हो, अतः मैं तुम्हें) सत्य नामसे; **वदिष्यामि**=कहूँगा; **तत्**=वह (सर्वशक्तिमान् परमेश्वर); **माम् अवतु**=मेरी रक्षा करे; **तत्**=वह; **वक्तारम् अवतु**=वक्ताकी अर्थात् आचार्यकी रक्षा करे; **अवतु माम्**=रक्षा करे मेरी (और); **अवतु वक्तारम्**=रक्षा करे मेरे आचार्यकी; **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः**=भगवान् शान्तिस्वरूप हैं, शान्तिस्वरूप हैं, शान्तिस्वरूप हैं।

व्याख्या—इस प्रथम अनुवाकमें भिन्न-भिन्न शक्तियोंके अधिष्ठाता

---

* यह मन्त्र ऋग्वेद १।९०।९, अथर्ववेद १९।९।६ और यजुर्वेद ३६।९ में भी आया है।

परब्रह्म परमेश्वरकी भिन्न-भिन्न नाम और रूपोंमें स्तुति करते हुए उनसे प्रार्थना की गयी है। भाव यह है कि समस्त आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक शक्तियोंके रूपमें तथा उनके अधिष्ठाता मित्र, वरुण आदि देवताओंके रूपमें जो सबके आत्मा—अन्तर्यामी परमेश्वर हैं, वे सब प्रकारसे हमारे लिये कल्याणमय हों। हमारी उन्नतिके मार्गमें और अपनी प्राप्तिके मार्गमें किसी प्रकारका विघ्न न आने दें। सबके अन्तर्यामी उन ब्रह्मको हम नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार परमात्मासे शान्तिकी प्रार्थना करके सूत्रात्मा प्राणके रूपमें समस्त प्राणियोंमें व्याप्त उन परमेश्वरकी वायुके नामसे स्तुति करते हैं—हे सर्वशक्तिमान् सबके प्राणस्वरूप वायुमय परमेश्वर ! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हीं समस्त प्राणियोंके प्राणस्वरूप प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, अतः मैं तुम्हींको प्रत्यक्ष ब्रह्मके नामसे पुकारूँगा। मैं 'ऋत' नामसे भी तुम्हें पुकारूँगा; क्योंकि सारे प्राणियोंके लिये जो कल्याणकारी नियम है, उस नियमरूप ऋतके तुम्हीं अधिष्ठाता हो। तथा मैं तुम्हें 'सत्य' नामसे पुकारा करूँगा; क्योंकि सत्य (यथार्थ भाषण) के अधिष्ठातृ देवता तुम्हीं हो। वे सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमेश्वर मुझे सत्-आचरण एवं सत्य-भाषण करनेकी और सत्-विद्याको ग्रहण करनेकी शक्ति प्रदान करके इस जन्म-मरणरूप संसारचक्रसे मेरी रक्षा करें तथा मेरे आचार्यको इन सबका उपदेश देकर सर्वत्र उस सत्यका प्रचार करनेकी शक्ति प्रदान करके उनकी रक्षा करें। यहाँ 'मेरी रक्षा करें', 'वक्ताकी रक्षा करें'—इन वाक्योंको दुबारा कहनेका अभिप्राय शान्तिपाठकी समाप्तिको सूचित करना है।

ओम् शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः—इस प्रकार तीन बार कहनेका भाव यह है कि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—तीनों प्रकारके विघ्नोंका सर्वथा उपशमन हो जाय। भगवान् शान्तिस्वरूप हैं, अतः उनके स्मरणसे सब प्रकारकी शान्ति निश्चित है।

॥ प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥



****

द्वितीय अनुवाक

शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम संतानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः।

शीक्षाम् व्याख्यास्यामः=अब हम शिक्षाका वर्णन करेंगे; **वर्णः**=वर्ण; **स्वरः**=स्वर; **मात्राः**=मात्रा; **बलम्**=प्रयत्न; **साम**=वर्णोंका समवृत्तिसे उच्चारण अथवा गान करनेकी रीति (और); **संतानः**=संधि; **इति**=इस प्रकार; **शीक्षाध्यायः**=वेदके उच्चारणकी शिक्षाका अध्याय; **उक्तः**=कहा गया।

व्याख्या—इस मन्त्रमें वेदके उच्चारणके नियमोंका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करके उनका संकेतमात्र किया गया है। इससे मालूम होता है कि उस समय जो शिष्य परमात्माकी रहस्यविद्याका जिज्ञासु होता था, वह इन नियमोंको पहलेसे ही पूर्णतया जाननेवाला होता था; अतः उसे सावधान करनेके लिये संकेतमात्र ही यथेष्ट था। इन संकेतोंका भाव यह प्रतीत होता है कि मनुष्यको वैसे तो प्रत्येक शब्दके उच्चारणमें सावधानीके साथ शुद्ध बोलनेका अभ्यास रखना चाहिये। पर यदि लौकिक शब्दोंमें नियमोंका पालन नहीं भी किया जा सके तो कम-से-कम वेदमन्त्रोंका उच्चारण तो अवश्य ही शिक्षाके नियमानुसार होना चाहिये। क, ख आदि व्यञ्जन-वर्णों और अ, आ आदि स्वरवर्णोंका स्पष्ट उच्चारण करना चाहिये। दन्त्य 'स' के स्थानमें तालव्य 'श' या मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण नहीं करना चाहिये। 'व' के स्थानमें 'ब' का उच्चारण नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार अन्य वर्णोंके उच्चारणमें भी विशेष ध्यान रखना चाहिये। इसी प्रकार बोलते समय किस वर्णका किस जगह क्या भाव प्रकट करनेके लिये उच्च स्वरसे उच्चारण करना उचित है, किसका मध्य स्वरसे और किसका निम्न स्वरसे उच्चारण करना उचित है—इस बातका भी पूरा-पूरा ध्यान रखकर यथोचित स्वरसे बोलना चाहिये। वेदमन्त्रोंके उच्चारणमें उदात्त आदि स्वरोंका ध्यान रखना और कहाँ कौन स्वर है—इसका यथार्थ ज्ञान होना विशेष आवश्यक है; क्योंकि मन्त्रोंमें स्वरभेद होनेसे उनका अर्थ बदल जाता है तथा अशुद्ध स्वरका उच्चारण करनेवालेको अनिष्टका भागी होना

पड़ता है* ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत—इस प्रकार मात्राओंके भेदोंको भी समझकर यथायोग्य उच्चारण करना चाहिये; क्योंकि ह्रस्वके स्थानमें दीर्घ और दीर्घके स्थानमें ह्रस्व उच्चारण करनेमें अर्थका बहुत अन्तर हो जाता है—जैसे 'सिता और सीता'। बलका अर्थ है प्रयत्न। वर्णोंकि उच्चारणमें उनकी ध्वनिको व्यक्त करनेमें जो प्रयास करना पड़ता है, वही प्रयत्न कहलाता है। प्रयत्न दो प्रकारके होते हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तरके पाँच और बाह्यके ग्यारह भेद माने गये हैं। स्पृष्ट, ईषत्-स्पृष्ट, विवृत, ईषद्-विवृत, संवृत—ये आभ्यन्तर प्रयत्न हैं। विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित—ये बाह्य प्रयत्न हैं। उदाहरणके लिये 'क' से लेकर 'म' तकके अक्षरोंका आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट है; क्योंकि कण्ठ आदि स्थानोंमें प्राणवायुके स्पर्शसे इनका उच्चारण होता है। 'क' का बाह्य प्रयत्न विवार, श्वास, अघोष तथा अल्पप्राण है— इस विषयका विशद ज्ञान प्राप्त करनेके लिये व्याकरण देखना चाहिये। वर्णोंका समवृत्तिसे उच्चारण या सामगानकी रीति ही साम है। इसका भी ज्ञान और तदनुसार उच्चारण आवश्यक है। संतानका अर्थ है संहिता—संधि। स्वर, व्यञ्जन, विसर्ग अथवा अनुस्वार आदि अपने परवर्ती वर्णके संयोगसे कहीं-कहीं नूतन रूप धारण कर लेते हैं; इस प्रकार वर्णोंका यह संयोगजनित विकृतिभाव—'संधि' कहलाता है। किसी विशेष स्थलमें जहाँ संधि बाधिता होती है, वहाँ वर्णमें विकार नहीं आता, अतः उसे 'प्रकृतिभाव' कहते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है

---

* महर्षि पतञ्जलिने महाभाष्यमें कहा है—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

अर्थात् स्वर या वर्णकी अशुद्धिसे दूषित शब्द ठीक-ठीक प्रयोग न होनेके कारण अभीष्ट अर्थका वाचक नहीं होता। इतना ही नहीं, वह वचनरूपी वज्र यजमानको हानि भी पहुँचाता है। जैसे 'इन्द्रशत्रु' शब्दमें स्वरकी अशुद्धि हो जानेके कारण 'वृत्रासुर' स्वयं ही इन्द्रके हाथसे मारा गया।

कि वर्णोंके उच्चारणमें उक्त छहों नियमोंका पालन आवश्यक है।

॥ द्वितीय अनुवाक समाप्त॥ २॥

——★——

तृतीय अनुवाक

सम्बन्ध—*अब आचार्य अपने और शिष्यके अभ्युदयकी इच्छा प्रकट करते हुए संहिताविषयक उपासनाविधि आरम्भ करते हैं—*

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातः सँहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोक-मधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्। ता महासँहिता इत्याचक्षते। अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तर-रूपम्। आकाशः संधिः। वायुः संधानम्। इत्यधिलोकम्॥

नौ=हम (आचार्य और शिष्य) दोनोंका; **यशः**=यश; **सह**=एक साथ बढ़े (तथा); **सह**=एक साथ ही; **नौ**=हम दोनोंका; **ब्रह्मवर्चसम्**=ब्रह्मतेज भी बढ़े; **अथ**=इस प्रकार शुभ इच्छा प्रकट करनेके अनन्तर; **अतः**=यहाँसे (हम); **अधिलोकम्**=लोकोंके विषयमें; **अधिज्यौतिषम्**=ज्योतियोंके विषयमें; **अधिविद्यम्**=विद्याके विषयमें; **अधिप्रजम्**=प्रजाके विषयमें; (और) **अध्यात्मम्**=शरीरके विषयमें; (इस तरह) **पञ्चसु**=पाँच; **अधिकरणेषु**=स्थानोंमें; **संहितायाः**=संहिताके; **उपनिषदम् व्याख्यास्यामः**=रहस्यका वर्णन करेंगे; **ताः**=इन सबको; **महासंहिताः**=महासंहिता; **इति**=इस नामसे; **आचक्षते**=कहते हैं; **अथ**=उनमेंसे (यह पहली); **अधिलोकम्**=लोकविषयक संहिता है; **पृथिवी**=पृथ्वी; **पूर्वरूपम्**=पूर्वरूप (पूर्ववर्ण) है; **द्यौः**=स्वर्गलोक; **उत्तररूपम्**=उत्तररूप (परवर्ण) है; **आकाशः**=आकाश; **संधिः**=संधि—मेलसे बना हुआ रूप (तथा); **वायुः**=वायु; **संधानम्**=दोनोंका संयोजक है; **इति**=इस प्रकार (यह); **अधिलोकम्**=लोकविषयक संहिताकी उपासना-विधि पूरी हुई।

व्याख्या—इस अनुवाकमें पहले समदर्शी आचार्यके द्वारा अपने लिये और शिष्यके लिये भी यश और तेजकी वृद्धिके उद्देश्यसे शुभ आकाङ्क्षा की गयी है। आचार्यकी अभिलाषा यह है कि हमको तथा हमारे श्रद्धालु और विनयी शिष्यको भी ज्ञान और उपासनासे उपलब्ध होनेवाले यश और ब्रह्मतेजकी प्राप्ति हो। इसके पश्चात् आचार्य संहिताविषयक उपनिषद्की व्याख्या करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसका निरूपण करते हैं। वर्णोंमें जो संधि होती है, उसको 'संहिता' कहते हैं। वही संहिता-दृष्टि जब व्यापकरूप धारण करके लोक आदिको अपना विषय बनाती है, तब उसे 'महासंहिता' कहते हैं। संहिता या संधि पाँच प्रकारकी होती है, यह प्रसिद्ध है। स्वर, व्यञ्जन, स्वादि, विसर्ग और अनुस्वार—ये ही संधिके अधिष्ठान बननेपर पञ्चसंधिके नामसे प्रसिद्ध होते हैं। वस्तुतः ये संधिके पाँच आश्रय हैं। इसी प्रकार पूर्वोक्त महासंहिता या महासंधिके भी पाँच आश्रय हैं—लोक, ज्योति, विद्या, प्रजा और आत्मा (शरीर)। तात्पर्य यह कि जैसे वर्णोंमें संधिका दर्शन किया जाता है, उसी प्रकार इन लोक आदिमें भी संहिता-दृष्टि करनी चाहिये। वह किस प्रकार हो, यह बात समझायी जाती है। प्रत्येक संधिके चार भाग होते हैं—पूर्ववर्ण, परवर्ण, दोनोंके मेलसे होनेवाला रूप तथा दोनोंका संयोजक नियम। इसी प्रकार यहाँ जो लोक आदिमें संहिता-दृष्टि बतायी जाती है, उसके भी चार विभाग होंगे—पूर्वरूप, उत्तररूप, संधि (दोनोंके मिलनेसे होनेवाला रूप) और संधान (संयोजक)।

इस मन्त्रमें लोकविषयक संहिता-दृष्टिका निरूपण किया गया है। पृथ्वी अर्थात् यह लोक ही पूर्वरूप है। तात्पर्य यह कि लोकविषयक महासंहितामें पूर्ववर्णके स्थानपर पृथ्वीको देखना चाहिये। इसी प्रकार स्वर्ग ही संहिताका उत्तररूप (परवर्ण) है। आकाश यानी अन्तरिक्ष ही इन दोनोंकी संधि है और वायु इनका संधान (संयोजक) है। जैसे पूर्व और उत्तरवर्ण संधिमें मिलकर एक हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणवायुके द्वारा पूर्ववर्णस्थानीय इस भूतलका प्राणी उत्तरवर्णस्थानीय स्वर्गलोकसे मिलाया जाता है। (सम्बद्ध किया जाता

है)—यह भाव हो सकता है।

यहाँ यह अनुमान होता है कि इस वर्णनमें यथेष्ट लोकोंकी प्राप्तिका उपाय बताया गया है; क्योंकि फलश्रुतिमें इस विद्याको जाननेका फल स्वर्गलोकसे सम्बद्ध हो जाना बताया है; परन्तु इस विद्याकी परम्परा नष्ट हो जानेके कारण इस संकेतमात्रके वर्णनसे यह बात समझमें नहीं आती कि किस प्रकार कौन-से लोककी प्राप्ति की जा सकती है। इतना तो समझमें आता है कि लोकोंकी प्राप्तिमें प्राणोंकी प्रधानता है। प्राणोंके द्वारा ही मन और इन्द्रियोंके सहित जीवात्माका प्रत्येक लोकमें गमन होता है—यह बात उपनिषदोंमें जगह-जगह कही गयी है; किंतु यहाँ जो यह कहा गया है कि पृथ्वी पहला वर्ण है और द्युलोक दूसरा वर्ण है एवं आकाश संधि (इनका संयुक्तरूप) है—इस कथनका क्या भाव है, यह ठीक-ठीक समझमें नहीं आता।

अथाधिज्यौतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः संधिः। वैद्युतः संधानम्। इत्यधिज्यौतिषम्।

अथ=अब; **अधिज्यौतिषम्**=ज्योतिविषयक संहिताका वर्णन करते हैं; **अग्निः**=अग्नि; **पूर्वरूपम्**=पूर्वरूप (पूर्ववर्ण) है; **आदित्यः**=सूर्य; **उत्तररूपम्**=उत्तररूप (परवर्ण) है; **आपः**=जल—मेघ; **संधिः**=इन दोनोंकी संधि—मेलसे बना हुआ रूप है (और); **वैद्युतः**=बिजली; (इनका) **संधानम्**=संधान (जोड़नेका हेतु) है; **इति**=इस प्रकार; **अधिज्यौतिषम्**=ज्योतिविषयक संहिता कही गयी।

व्याख्या—अग्नि इस भूतलपर सुलभ है; अतः उसे संहिताका 'पूर्ववर्ण' माना है; और सूर्य द्युलोकमें—ऊपरके लोकमें प्रकाशित होता है, अतः वह उत्तररूप (परवर्ण) बताया गया है। इन दोनोंसे उत्पन्न होनेके कारण मेघ ही संधि है तथा विद्युत्-शक्ति ही संधिकी हेतु (संधान) बतायी गयी है।

इस मन्त्रमें ज्योतिविषयक संहिताका वर्णन करके ज्योतियोंके संयोगसे नाना प्रकारके भौतिक पदार्थोंकी विभिन्न अभिव्यक्तियोंके विज्ञानका रहस्य समझाया गया है। उन ज्योतियोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले भोग्य पदार्थोंको जलका नाम

दिया गया है और उन सबकी उत्पत्तिमें बिजलीको संयोजक बताया गया है, ऐसा अनुमान होता है; क्योंकि आजकलके वैज्ञानिकोंने भी बिजलीके सम्बन्धसे नाना प्रकारके भौतिक विकास करके दिखाये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि वेदमें यह भौतिक उन्नतिका साधन भी भलीभाँति बताया गया है; परंतु परम्परा नष्ट हो जानेके कारण उसको समझने और समझानेवाले दुर्लभ हो गये हैं।

अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या संधिः। प्रवचनँ्संधानम्। इत्यधिविद्यम्।

अथ=अब; **अधिविद्यम्**=विद्याविषयक संहिताका आरम्भ करते हैं; **आचार्यः**=गुरु; **पूर्वरूपम्**=पहला वर्ण है; **अन्तेवासी**=समीप निवास करनेवाला शिष्य; **उत्तररूपम्**=दूसरा वर्ण है; **विद्या**= (दोनोंके मिलनेसे उत्पन्न) विद्या; **संधिः**=मिला हुआ रूप है; **प्रवचनम्**=गुरुद्वारा दिया हुआ उपदेश ही; **संधानम्**=संधिका हेतु है; **इति**=इस प्रकार (यह); **अधिविद्यम्**=विद्याविषयक संहिता कही गयी।

व्याख्या—इस मन्त्रमें विद्याके विषयमें संहिता-दृष्टिका उपदेश दिया गया है। इसके द्वारा विद्याप्राप्तिका रहस्य समझाया गया है। भाव यह है कि जिस प्रकार वर्णोंकी संधिमें एक पूर्ववर्ण और एक परवर्ण होता है, उसी प्रकार यहाँ विद्यारूप संहितामें गुरु तो मानो पूर्ववर्ण है और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गुरुकी सेवा करनेवाला विद्याभिलाषी शिष्य परवर्ण है; तथा संधिमें दो वर्णोंके मिलनेपर जैसे एक तीसरा नया वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार गुरु और शिष्यके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाली विद्या—ज्ञान ही यहाँ संधि है। इस विद्यारूप संधिके प्रकट होनेका कारण है—प्रवचन अर्थात् गुरुका उपदेश देना और शिष्यद्वारा उसको श्रद्धापूर्वक सुन-समझकर धारण करना—यही संधान है। जो मनुष्य इस रहस्यको समझकर विद्वान् गुरुकी सेवा करता है, वह अवश्य ही विद्या प्राप्त करके विद्वान् हो जाता है।

अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्। प्रजा संधिः। प्रजननँ्संधानम्। इत्यधिप्रजम्।

अथ=अब; **अधिप्रजम्**=प्रजाविषयक संहिता कहते हैं; **माता**=माता; **पूर्वरूपम्**=पूर्वरूप (पूर्ववर्ण) है; **पिता**=पिता; **उत्तररूपम्**=उत्तररूप (परवर्ण) है; **प्रजा**=(उन दोनोंके मेलसे उत्पन्न) संतान; **संधिः**=संधि है (तथा); **प्रजननम्**=प्रजनन (संतानोत्पत्तिके अनुकूल व्यापार); **संधानम्**= संधान (संधिका कारण) है; **इति**=इस प्रकार (यह); **अधिप्रजम्**=प्रजा-विषयक संहिता कही गयी।

व्याख्या—इस मन्त्रमें संहिताके रूपमें प्रजाका वर्णन करके संतान-प्राप्तिका रहस्य समझाया गया है। भाव यह है कि इस प्रजाविषयक संहितामें माता तो मानो पूर्ववर्ण है और पिता परवर्ण है। जिस प्रकार दोनों वर्णोंकी संधिसे एक नया वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार माता-पिताके संयोगसे उत्पन्न होनेवाली संतान ही इस संहितामें दोनोंकी संधि (संयुक्तस्वरूप) है। तथा माता और पिताका जो ऋतुकालमें शास्त्रविधिके अनुसार यथोचित नियमपूर्वक संतानोत्पत्तिके उद्देश्यसे सहवास करना है, यही संधान (संतानोत्पत्तिका कारण) है। जो मनुष्य इस रहस्यको समझकर संतानोत्पत्तिके उद्देश्यसे ऋतुकालमें धर्मयुक्त स्त्रीसहवास करता है, वह अवश्य ही अपनी इच्छाके अनुसार श्रेष्ठ संतान प्राप्त कर लेता है।

अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक् संधिः। जिह्वा संधानम्। इत्यध्यात्मम्।

अथ=अब; **अध्यात्मम्**=आत्मविषयक संहिताका वर्णन करते हैं; **अधरा हनुः**=नीचेका जबड़ा; **पूर्वरूपम्**=पूर्वरूप (पूर्ववर्ण) है; **उत्तरा हनुः**=ऊपरका जबड़ा; **उत्तररूपम्**=दूसरा रूप (परवर्ण) है; **वाक्**=(दोनोंके मिलनेसे उत्पन्न) वाणी; **संधिः**=संधि है (और); **जिह्वा**=जिह्वा; **संधानम्**=संधान (वाणीरूप संधिकी उत्पत्तिका कारण) है; **इति**=इस प्रकार (यह); **अध्यात्मम्**=आत्मविषयक संहिता कही गयी।

व्याख्या—इस मन्त्रमें शरीरविषयक संहिता-दृष्टिका उपदेश किया गया है। शरीरमें प्रधान अङ्ग मुख है, अतः मुखके ही अवयवोंमें संहिताका विभाग

दिखाया गया है। तात्पर्य यह कि नीचेका जबड़ा मानो संहिताका पूर्ववर्ण है, ऊपरका जबड़ा परवर्ण है; इन दोनोंके संयोगसे इनके मध्यभागमें अभिव्यक्त होनेवाली वाणी ही संधि है और जिह्वा ही संधान (वाणीरूप संधिके प्रकट होनेका कारण) है; क्योंकि जिह्वाके बिना मनुष्य कोई भी शब्द नहीं बोल सकता। वाणीमें विलक्षण शक्ति है। वाणीद्वारा प्रार्थना करके मनुष्य शरीरके पोषण और उसे उन्नत करनेकी सभी सामग्री प्राप्त कर सकता है तथा ओंकाररूप परमेश्वरके नाम-जपसे परमात्माको भी प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार वाणीमें शारीरिक और आत्मविषयक—दोनों तरहकी उन्नति करनेकी सामर्थ्य भरी हुई है। इस रहस्यको समझकर जो मनुष्य अपनी वाणीका यथायोग्य उपयोग करता है, वह वाक्शक्ति पाकर उसके द्वारा अभीष्ट फल प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है।

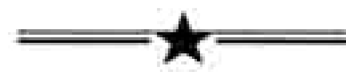
इतीमा महासँहिता य एवमेता महासँहिता व्याख्याता वेद। संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्गेण लोकेन।

इति=इस प्रकार; **इमाः**=ये; **महासंहिताः**=पाँच महासंहिताएँ कही गयी हैं; **यः**=जो मनुष्य; **एवम्**=इस प्रकार; **एताः**=इन; **व्याख्याताः**=ऊपर बतायी हुई; **महासंहिताः**=महासंहिताओंको; **वेद**=जान लेता है; (वह) **प्रजया**=संतानसे; **पशुभिः**=पशुओंसे; **ब्रह्मवर्चसेन**=ब्रह्मतेजसे; **अन्नाद्येन**=अन्न आदि भोग्यपदार्थोंसे (और); **सुवर्गेण लोकेन**=स्वर्गरूप लोकसे; **संधीयते**=सम्पन्न हो जाता है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें पाँच प्रकारसे कही हुई महासंहिताओंके यथार्थ ज्ञानका फल बताया गया है। इनको जाननेवाला अपनी इच्छाके अनुकूल संतान प्राप्त कर सकता है, विद्याके द्वारा ब्रह्मतेजसम्पन्न हो जाता है, अपनी इच्छाके अनुसार नाना प्रकारके पशुओंको और अन्न आदि आवश्यक भोग्य-पदार्थोंको प्राप्त कर सकता है। इतना ही नहीं, उसे स्वर्गलोककी प्राप्ति भी हो जाती है। इनमेंसे लोकविषयक संहिताके ज्ञानसे स्वर्ग आदि उत्तम लोक, ज्योतिविषयक संहिताके ज्ञानसे नाना प्रकारकी भौतिक सामग्री, प्रजाविषयक

संधिके ज्ञानसे संतान, विद्याविषयक संहिताके ज्ञानसे विद्या और ब्रह्मतेज तथा अध्यात्मसंहिताके विज्ञानसे वाक्शक्तिकी प्राप्ति—इस प्रकार पृथक्-पृथक् फल समझना चाहिये। श्रुतिमें समस्त संहिताओंके ज्ञानका सामूहिक फल बतलाया गया है। श्रुति ईश्वरकी वाणी है; अतः इसका रहस्य समझकर श्रद्धा और विश्वासके साथ उपर्युक्त उपासना करनेसे निस्संदेह वे सभी फल प्राप्त हो सकते हैं, जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है।

॥ तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥



चतुर्थ अनुवाक

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः छन्दोभ्योऽध्यमृतात् सम्बभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय।

यः=जो; **छन्दसाम्**=वेदोंमें; **ऋषभः**=सर्वश्रेष्ठ है; **विश्वरूपः**=सर्वरूप है (और); **अमृतात्**=अमृतस्वरूप; **छन्दोभ्यः**=वेदोंसे; **अधि**=प्रधानरूपमें; **सम्बभूव**=प्रकट हुआ है; **सः**=वह (ओंकारस्वरूप); **इन्द्रः**=सबका स्वामी (परमेश्वर); **मा**=मुझे; **मेधया**=धारणायुक्त बुद्धिसे; **स्पृणोतु**=सम्पन्न करे; **देव**=हे देव! (मैं आपकी कृपासे); **अमृतस्य धारणः**=अमृतमय परमात्माको (अपने हृदयमें) धारण करनेवाला; **भूयासम्**=बन जाऊँ; **मे**=मेरा; **शरीरम्**=शरीर; **विचर्षणम्**=विशेष फुर्तीला—सब प्रकारसे रोगरहित हो (और); **मे**=मेरी; **जिह्वा**=जिह्वा; **मधुमत्तमा**=अतिशयमधुमती (मधुरभाषिणी); **[भूयात्]**=हो जाय; **कर्णाभ्याम्**=(मैं) दोनों कानोंद्वारा; **भूरि**=अधिक; **विश्रुवम्**=सुनता रहूँ; (हे प्रणव! तू) **मेधया**=लौकिक बुद्धिसे; **पिहितः**=ढकी हुई; **ब्रह्मणः**=परमात्माकी; **कोशः**=निधि; **असि**=है; (तू) **मे**=मेरे; **श्रुतम् गोपाय**=सुने हुए उपदेशकी रक्षा कर।

व्याख्या—इस चतुर्थ अनुवाकमें '**मे श्रुतम् गोपाय**' इस वाक्यतक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये आवश्यक बुद्धिबल और शारीरिक बलकी प्राप्तिके उद्देश्यसे परमेश्वरसे उनके नाम ओंकारद्वारा प्रार्थना करनेका प्रकार बताया गया है। भाव यह है कि 'ओम्' यह परमेश्वरका नाम वेदोक्त जितने भी मन्त्र हैं, उन सबमें श्रेष्ठ है और सर्वरूप है; क्योंकि प्रत्येक मन्त्रके आदिमें ओंकारका उच्चारण किया जाता है और ओंकारके उच्चारणसे सम्पूर्ण वेदोंके उच्चारणका फल प्राप्त होता है। तथा अविनाशी वेदोंसे यह ओंकार प्रधानरूपमें प्रकट हुआ है। ओंकार नाम है और परमेश्वर नामी; अतः दोनों परस्पर अभिन्न हैं। वे प्रणवरूप परमात्मा सबके परमेश्वर होनेके कारण 'इन्द्र' नामसे प्रसिद्ध हैं। वे इन्द्र मुझे मेधासे सम्पन्न करें। '**धीर्धारणावती मेधा**' इस कोषवाक्यके अनुसार धारणशक्तिसे सम्पन्न बुद्धिका नाम मेधा है। तात्पर्य यह कि परमात्मा मुझे पढ़े और समझे हुए भावोंको धारण करनेकी शक्तिसे सम्पन्न करें। हे देव ! मैं आपकी अहैतुकी कृपासे आपके अमृतमय स्वरूपको अपने हृदयमें धारण करनेवाला बन जाऊँ। मेरा शरीर रोगरहित रहे, जिससे आपकी उपासनामें किसी प्रकारका विघ्न न पड़े। मेरी जिह्वा अतिशय मधुमती अर्थात् मधुर स्वरसे आपके अत्यन्त मधुर नाम और गुणोंका कीर्तन करके उनके मधुर रसका आस्वादन करनेवाली बन जाय। मैं अपने दोनों कानोंद्वारा कल्याणमय बहुत-से शब्दोंको सुनता रहूँ, अर्थात् मेरे कानोंमें आचार्यद्वारा वर्णन किये हुए रहस्यको पूर्णतया सुननेकी शक्ति आ जाय और मुझे आपका कल्याणमय यश सुननेको मिलता रहे। हे ओंकार ! तू परमेश्वरकी निधि है, अर्थात् वे पूर्णब्रह्म परमेश्वर तुझमें भरे हुए हैं; क्योंकि नामी नामके ही आश्रित रहता है। ऐसा होते हुए भी तू मनुष्योंकी लौकिक बुद्धिसे ढका हुआ है—लौकिक तर्कसे अनुसंधान करनेवालोंकी बुद्धिमें तेरा प्रभाव व्यक्त नहीं होता। हे देव ! तू सुने हुए उपदेशकी रक्षा कर अर्थात् ऐसी कृपा कर कि मुझे जो उपदेश सुननेको मिले, उसे मैं स्मरण रखता हुआ उसके अनुसार अपना जीवन बना सकूँ।

सम्बन्ध—*अब ऐश्वर्यकी कामनावालेके लिये हवन करनेके मन्त्रोंका आरम्भ करते हैं—*

आवहन्ती वितन्वाना कुर्वाणाचीरमात्मनः। वासाꣳसि मम गावश्च। अन्नपाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा।

ततः=उसके बाद (अब ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी रीति बताते हैं—हे देव!); **[या श्रीः]**=जो श्री; **मम**=मेरे; **आत्मनः**=अपने लिये; **अचीरम्**=तत्काल ही; **वासांसि**=नाना प्रकारके वस्त्र; **च**=और; **गावः**=गौएँ; **च**=तथा; **अन्नपाने**=खाने-पीनेके पदार्थ; **सर्वदा**=सदैव; **आवहन्ती**=ला देनेवाली; **वितन्वाना**=उनका विस्तार करनेवाली; (तथा) **कुर्वाणा**=उन्हें बनानेवाली है; **लोमशाम्**=रोएँवाले—भेड़-बकरी आदि; **पशुभिः सह**=पशुओंके सहित; **[ताम्] श्रियम्**=उस श्रीको; **मे**=मेरे लिये (तू); **आवह**=ले आ; **स्वाहा**=स्वाहा (इसी उद्देश्यसे तुझे यह आहुति समर्पित की जाती) है।

व्याख्या—चतुर्थ अनुवाकके इस उपर्युक्त अंशमें ऐश्वर्यकी कामना-वाले सकाम मनुष्योंके लिये, परमेश्वरसे प्रार्थना करते हुए अग्निमें आहुति देनेकी रीति बतायी गयी है। प्रार्थनाका भाव यह है कि 'हे अग्निके अधिष्ठाता परमेश्वर! जो मेरे निजके लिये आवश्यकता होनेपर बिना विलम्ब तत्काल ही नाना प्रकारके वस्त्र, गौएँ और खाने-पीनेकी विविध सामग्री सदैव प्रस्तुत कर दे, उन्हें बढ़ाती रहे तथा उन्हें नवीनरूपसे रच दे, ऐसी श्रीको तू मेरे लिये भेड़-बकरी आदि रोएँवाले एवं अन्य प्रकारके पशुओंसहित ला दे। अर्थात् समस्त भोग-सामग्रीका साधनरूप धन मुझे प्रदान कर।' इस मन्त्रका उच्चारण करके 'स्वाहा' इस शब्दके साथ अग्निमें आहुति देनी चाहिये, यह ऐश्वर्यकी प्राप्तिका साधन है।

सम्बन्ध—*आचार्यको ब्रह्मचारियोंके हितार्थ किस प्रकार हवन करना चाहिये, इसकी विधि बतायी जाती है—*

आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।

ब्रह्मचारिण:=ब्रह्मचारीलोग; **मा**=मेरे पास; **आयन्तु**=आयें; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति दी जाती है); **ब्रह्मचारिण:**=ब्रह्मचारीलोग; **विमायन्तु**=कपटशून्य हों; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **ब्रह्मचारिण:**=ब्रह्मचारीलोग; **प्रमायन्तु**=प्रमाणिक ज्ञानको ग्रहण करनेवाले हों; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **ब्रह्मचारिण:**=ब्रह्मचारीलोग; **दमायन्तु**=इन्द्रियोंका दमन करनेवाले हों; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **ब्रह्मचारिण:**=ब्रह्मचारीलोग; **शमायन्तु**=मनको वशमें करनेवाले हों; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है)।

व्याख्या—चतुर्थ अनुवाकके इस अंशमें शिष्योंके हितार्थ आचार्यको जिन मन्त्रोंद्वारा हवन करना चाहिये, उनका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि आचार्य 'उत्तम' ब्रह्मचारीलोग मेरे पास विद्या पढ़नेके लिये आयें, इस उद्देश्यसे मन्त्र पढ़कर 'स्वाहा' शब्दके साथ पहली आहुति दे; 'मेरे ब्रह्मचारी कपटशून्य हों' इस उद्देश्यसे मन्त्र पढ़कर 'स्वाहा' शब्दके साथ दूसरी आहुति दे; 'ब्रह्मचारीलोग उत्तम ज्ञानको ग्रहण करनेवाले हों' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ तीसरी आहुति दे; 'ब्रह्मचारीलोग इन्द्रियोंका दमन करनेवाले हों' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ चौथी आहुति दे तथा 'ब्रह्मचारीलोग मनको वशमें करनेवाले हों' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ पाँचवीं आहुति दे।

सम्बन्ध—*आचार्यको अपने लौकिक और पारलौकिक हितके लिये किस प्रकार हवन करना चाहिये, इसकी विधि बतायी जाती है—*

यशो जनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा। तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन् सहस्रशाखे निभगाहं त्वयि मृजे स्वाहा।

जने=लोगोंमें (मैं); **यश:**=यशस्वी; **असानि**=होऊँ; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **वस्यस:**=महान् धनवानोंकी अपेक्षा भी; **श्रेयान्**=अधिक धनवान्; **असानि**=हो जाऊँ; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे

यह आहुति है); **भग**=हे भगवन्!; **तम् त्वा**=उस आपमें; **प्रविशानि**=मैं प्रविष्ट हो जाऊँ; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **भग**=हे भगवन्!; **सः**=वह (तू); **मा**=मुझमें; **प्रविश**=प्रविष्ट हो जा; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **भग**=हे भगवन्!; **तस्मिन्**=उस; **सहस्रशाखे**=हजारों शाखावाले; **त्वयि**=आपमें; (ध्यानद्वारा निमग्न होकर) **अहम्**=मैं; **निमृजे**= अपनेको विशुद्ध कर लूँ; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है)।

व्याख्या—चतुर्थ अनुवाकके इस अंशमें आचार्यको अपने हितके लिये जिन मन्त्रोंद्वारा हवन करना चाहिये, उनका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि 'लोगोंमें मैं यशस्वी बनूँ, जगत्‌में मेरा यश-सौरभ सर्वत्र फैल जाय, मुझसे कोई भी ऐसा आचरण न बने, जो मेरे यशमें धब्बा लगानेवाला हो, इस उद्देश्यसे '**यशो जनेऽसानि**' इस मन्त्रका उच्चारण करके 'स्वाहा' शब्दके साथ पहली आहुति डालनी चाहिये। 'महान् धनवानोंकी अपेक्षा भी मैं अधिक सम्पत्तिशाली बन जाऊँ' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ दूसरी आहुति अग्निमें डालनी चाहिये। 'हे भगवन् ! आपके उस दिव्य स्वरूपमें मैं प्रविष्ट हो जाऊँ' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ तीसरी आहुति अग्निमें डालनी चाहिये। 'हे भगवन्! वह आपका दिव्य स्वरूप मुझमें प्रविष्ट हो जाय—मेरे मनमें बस जाय' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ चौथी आहुति अग्निमें डालनी चाहिये। 'हे भगवन्! हजारों शाखावाले आपके उस दिव्यरूपमें ध्यानद्वारा निमग्न होकर मैं अपने-आपको विशुद्ध बना लूँ' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ पाँचवीं आहुति अग्निमें डालनी चाहिये।

यथाऽऽपः प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व॥

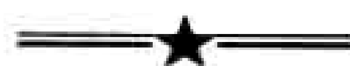
यथा=जिस प्रकार; **आपः**=(नदी आदिके) जल; **प्रवता**=निम्नस्थानसे होकर; **यन्ति**=समुद्रमें चले जाते हैं; **यथा**=जिस प्रकार; **मासाः**=महीने;

अहर्जरम्=दिनोंका अन्त करनेवाले संवत्सररूप कालमें; **[यन्ति]**=चले जाते हैं; **धातः**=हे विधाता !; **एवम्**=इसी प्रकार; **माम्**=मेरे पास; **सर्वतः**=सब ओरसे; **ब्रह्मचारिणः**=ब्रह्मचारीलोग; **आयन्तु**=आयें; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **प्रतिवेशः**=(तू) सबका विश्राम स्थान; **असि**=है; **मा**=मेरे लिये; **प्रभाहि**=अपनेको प्रकाशित कर; **मा**=मुझे; **प्रपद्यस्व**=प्राप्त हो जा।

व्याख्या—'जिस प्रकार समस्त जल-प्रवाह नीचेकी ओर बहते हुए समुद्रमें मिल जाते हैं तथा जिस प्रकार महीने दिनोंका अन्त करनेवाले संवत्सररूप कालमें जा रहे हैं, हे विधाता ! उसी प्रकार मेरे पास सब ओरसे ब्रह्मचारीलोग आयें और मैं उनको विद्याभ्यास कराकर तथा कल्याणका उपदेश देकर अपने कर्तव्यका एवं आपकी आज्ञाका पालन करता रहूँ।' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारण करके 'स्वाहा' शब्दके साथ छठी आहुति अग्निमें डालनी चाहिये। 'हे परमात्मन्। आप सबके विश्राम-स्थान हैं, अब मेरे लिये अपने दिव्य स्वरूपको प्रकाशित कर दीजिये और मुझे प्राप्त हो जाइये' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ सातवीं आहुति अग्निमें डाले।

इस प्रकार इस चौथे अनुवाकमें इस लोक और परलोकको उन्नतिका उपाय परमात्माकी प्रार्थना और उसके साथ-साथ हवनको बताया गया है। प्रकरण बड़ा ही सुन्दर और श्रेयस्कर है। अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको इसमें बताये हुए प्रकारसे अपने लिये जिस अंशकी आवश्यकता प्रतीत हो, उस अंशके अनुसार अनुष्ठान आरम्भ कर देना चाहिये।

॥ चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥



पञ्चम अनुवाक

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति। तद्ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः। भूरिति वा अयं लोकः। भुव

इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः। मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते।

भूः=भूः; **भुवः**=भुवः; **सुवः**=स्वः; **इति**=इस प्रकार; **एताः**=ये; **वै**=प्रसिद्ध; **तिस्रः**=तीन; **व्याहृतयः**=व्याहृतियाँ हैं; **तासाम् उ**=उन तीनोंकी अपेक्षासे; **चतुर्थीम्**=जो चौथी व्याहृति; **महः इति**='मह' इस नामसे; **ह**=प्रसिद्ध है; **एताम्**=इसको; **माहाचमस्यः**=महाचमसके पुत्रने; **प्रवेदयते स्म**=सबसे पहले जाना था; **तत्**=वह चौथी व्याहृति ही; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **सः**=वह; **आत्मा**=(ऊपर कही हुई व्याहृतियोंका) आत्मा है; **अन्याः**=अन्य; **देवताः**=सब देवता; **अङ्गानि**=(उसके) अङ्ग हैं; **भूः**='भूः'; **इति**=यह व्याहृति; **वै**=ही; **अयम् लोकः**=यह पृथ्वीलोक है; **भुवः**='भुवः'; **इति**=यह; **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष-लोक है; **सुवः**='स्वः'; **इति**=यह; **असौ लोकः**=वह प्रसिद्ध स्वर्गलोक है; **महः**='महः'; **इति**=यह; **आदित्यः**=आदित्य—सूर्य है; **आदित्येन**=(क्योंकि) आदित्यसे; **वाव**=ही; **सर्वे**=समस्त; **लोकाः**=लोक; **महीयन्ते**=महिमान्वित होते हैं।

व्याख्या—इस पञ्चम अनुवाकमें भूः, भुवः, स्वः और महः—इन चारों व्याहृतियोंकी उपासनाका रहस्य बताकर उसके फलका वर्णन किया गया है। पहले तो इसमें यह बात कही गयी है कि भूः, भुवः और स्वः—ये तीन व्याहृतियाँ तो प्रसिद्ध हैं; परंतु इनके अतिरिक्त जो चौथी व्याहृति 'महः' है, इसकी उपासनाका रहस्य सबसे पहले महाचमसके पुत्रने जाना था। भाव यह है कि इन चारों व्याहृतियोंको चार प्रकारसे प्रयोग करके उपासना करनेकी विधि, जो आगे बतायी गयी है, तभीसे प्रचलित हुई है। इसके बाद उन चार व्याहृतियोंमें किस प्रकारकी भावना करके उपासना करनी चाहिये, यह समझाया गया है। इन चारों व्याहृतियोंमें 'महः' यह चौथी व्याहृति सर्व-प्रधान है। अतः उपास्य देवोंमें 'महः' व्याहृतिको ब्रह्मका स्वरूप समझना चाहिये—यह भाव समझानेके लिये कहा गया है कि वह चौथी व्याहृति 'महः' ब्रह्मका नाम होनेसे ब्रह्म ही है; क्योंकि ब्रह्म सबके आत्मा हैं, सर्वरूप

हैं और अन्य सब देवता उनके अङ्ग हैं; अतः जिस किसी भी देवताकी इन व्याहृतियोंके द्वारा उपासना की जाय, उसमें इस बातको नहीं भूलना चाहिये कि यह सर्वरूप परमेश्वरकी ही उपासना है। सब देवता उन्हींके अङ्ग होनेसे अन्य देवोंकी उपासना भी उन्हींकी उपासना है। (गीता ९। २३-२४) उसके पश्चात् इन व्याहृतियोंमें लोकोंका चिन्तन करनेकी विधि इस प्रकार बतायी गयी है—'भूः' यह तो मानो पृथ्वीलोक है, 'भुवः' यह अन्तरिक्षलोक है, 'स्वः' यह सुप्रसिद्ध स्वर्गलोक है और 'महः' यह सूर्य है; क्योंकि सूर्यसे ही सब लोक महिमान्वित हो रहे हैं। तात्पर्य यह कि भूः, भुवः, स्वः—ये तीनों व्याहृतियाँ तो उन परमेश्वरके विराट् शरीररूप इस स्थूल ब्रह्माण्डको बतानेवाली—अर्थात् परमेश्वरके अङ्गोंके नाम हैं तथा 'महः' यह चौथी व्याहृति इस विराट् शरीरको प्रकाशित करनेवाले उसके आत्मारूप परमेश्वरको बतानेवाली है। 'महः' यह सूर्यका नाम है, सूर्यके भी आत्मा हैं परमेश्वर; अतः सूर्यरूपसे सब लोकोंको वे ही प्रकाशित करते हैं। इसलिये यहाँ सूर्यके उपलक्षणसे इस विराट् शरीरको प्रकाशित करनेवाले इसके आत्मारूप परमेश्वरकी ही उपासनाका लक्ष्य कराया गया है।

भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतीँषि महीयन्ते। भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूँषि। मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते।

भूः='भूः'; **इति**=यह व्याहृति; **वै** =ही; **अग्निः**=अग्नि है; **भुवः**='भुवः; **इति**=यह; **वायुः**=वायु है; **सुवः**='स्वः'; **इति**=यह; **आदित्यः**=आदित्य है; **महः**='महः'; **इति**=यह; **चन्द्रमाः**=चन्द्रमा है; (क्योंकि) **चन्द्रमसा**=चन्द्रमासे; **वाव**=ही; **सर्वाणि**=समस्त; **ज्योतींषि**=ज्योतियाँ; **महीयन्ते**=महिमावाली होती है; **भूः**='भूः'; **इति**=यह व्याहृति; **वै**=ही; **ऋचः**=ऋग्वेद है; **भुवः**='भुवः'; **इति**=यह; **सामानि**=सामवेद है; **सुवः**='स्वः'; **इति**=यह; **यजूंषि**=यजुर्वेद है; **महः**='महः'; **इति**=यह; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; (क्योंकि) **ब्रह्मणा**=ब्रह्मसे; **वाव**=ही;

सर्वे=समस्त; **वेदाः**=वेद; **महीयन्ते**=महिमावान् होते हैं।

व्याख्या—इसी प्रकार फिर ज्योतियोंमें इन व्याहृतियोंद्वारा परमेश्वरकी उपासनाका प्रकार बताया गया है। भाव यह है कि '**भूः**' यह व्याहृति अग्निका नाम होनेसे मानो अग्नि ही है। अग्निदेवता वाणीका अधिष्ठाता है और वाणी भी प्रत्येक विषयको व्यक्त करके प्रकाशित करनेवाली होनेसे ज्योति है; अतः वह भी ज्योतियोंकी उपासनामें मानो '**भूः**' है। '**भुवः**' यह वायु है। वायुदेवता त्वक्-इन्द्रियका अधिष्ठाता है और त्वक्-इन्द्रिय स्पर्शको प्रकाशित करनेवाली ज्योति है; अतः ज्योतिविषयक उपासनामें वायु और त्वचाको '**भुवः**' रूप समझना चाहिये। '**स्वः**' यह सूर्य है। सूर्य चक्षु-इन्द्रियका अधिष्ठातृ देवता है, चक्षु-इन्द्रिय भी सूर्यकी सहायतासे रूपको प्रकाशित करनेवाली ज्योति है; अतः ज्योतिविषयक उपासनामें सूर्य और चक्षु-इन्द्रियको '**स्वः**' व्याहृतिस्वरूप समझना चाहिये। '**महः**' यह चौथी व्याहृति ही मानो चन्द्रमा है, चन्द्रमा मनका अधिष्ठातृ देवता है। मनकी सहायतासे मनके साथ रहनेपर ही समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयको प्रकाशित कर सकती हैं, मनके बिना नहीं कर सकतीं; अतः सब ज्योतियोंमें प्रधान चन्द्रमा और मनको ही '**महः**' व्याहृतिरूप समझना चाहिये; क्योंकि चन्द्रमासे अर्थात् मनसे ही समस्त ज्योतिरूप इन्द्रियाँ महिमान्वित होती हैं। इस प्रकार मनके रूपमें परमेश्वरकी उपासना करनेकी विधि समझायी गयी है। फिर इसी भाँति वेदोंके विषयमें व्याहृतियोंके प्रयोगद्वारा परमेश्वरकी उपासनाका प्रकार बताया गया है। भाव यह है कि '**भूः**' यह ऋग्वेद है, '**भुवः**' यह सामवेद है, '**स्वः**' यह यजुर्वेद है और '**महः**' यह ब्रह्म है; क्योंकि ब्रह्मसे ही समस्त वेद महिमायुक्त होते हैं। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण वेदोंमें वर्णित समस्त ज्ञान परब्रह्म परमेश्वरसे ही प्रकट और उन्हींसे व्याप्त है तथा उन परमेश्वरके तत्त्वका इन वेदोंमें वर्णन है, इसीलिये इनकी महिमा है। इस प्रकार वेदोंमें इन व्याहृतियोंका प्रयोग करके उपासना करनी चाहिये।

भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते। ता वा

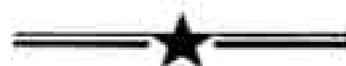
एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति।

भूः='भूः'; **इति**=यह व्याहृति; **वै**=ही; **प्राणः**=प्राण है; **भुवः**='भुवः'; **इति**=यह; **अपानः**=अपान है; **सुवः**='स्वः'; **इति**=यह; **व्यानः**=व्यान है; **महः**='महः'; **इति**=यह; **अन्नम्**=अन्न है; (क्योंकि) **अन्नेन**=अन्नसे; **वाव**=ही; **सर्वे**=समस्त; **प्राणाः**=प्राण; **महीयन्ते**=महिमायुक्त होते हैं; **ताः**=वे; **वै**=ही; **एताः**=ये; **चतस्रः**=चारों व्याहृतियाँ; **चतुर्धा**=चार प्रकारकी हैं; (अतएव) **चतस्रः चतस्रः**=एक-एकके चार-चार भेद होनेसे कुल सोलह; **व्याहृतयः**= व्याहृतियाँ हैं; **ताः**=उनको; **यः**=जो; **वेद**=तत्त्वसे जानता है; **सः**=वह; **ब्रह्म**=ब्रह्मको; **वेद**=जानता है; **अस्मै**=इस ब्रह्मवेत्ताके लिये; **सर्वे**=समस्त; **देवाः**=देवता; **बलिम्**=भेंट; **आवहन्ति**=समर्पण करते हैं।

व्याख्या—उसके बाद प्राणोंके विषयमें इन व्याहृतियोंका प्रयोग करके उपासनाका प्रकार समझाया गया है। भाव यह है कि 'भूः' यही मानो प्राण है, 'भुवः' यह अपान है, 'स्वः' यह व्यान है। इस प्रकार जगद्व्यापी समस्त प्राण ही मानो ये तीनों व्याहृतियाँ हैं और अन्न 'महः' रूप चतुर्थ व्याहृति है; क्योंकि जिस प्रकार व्याहृतियोंमें 'महः' प्रधान है, उसी प्रकार समस्त प्राणोंका पोषण करके उनकी महिमाको बनाये रखने और बढ़ानेके कारण उनकी अपेक्षा अन्न प्रधान है; अतः प्राणोंके अन्तर्यामी परमेश्वरकी अन्नके रूपमें उपासना करनी चाहिये।

इस तरह चारों व्याहृतियोंको चार प्रकारसे प्रयुक्त करके उपासना करनेकी रीति बताकर फिर उसे समझकर उपासना करनेका फल बताया गया है। भाव यह कि चार प्रकारसे प्रयुक्त इन चारों व्याहृतियोंकी उपासनाके भेदको जो कोई जान लेता है, अर्थात् समझकर उसके अनुसार परब्रह्म परमात्माकी उपासना करता है, वह ब्रह्मको जान लेता है और समस्त देव उसको भेंट समर्पण करते हैं—उसे परमेश्वरका प्यारा समझकर उसका आदर-सत्कार करते हैं।

॥ पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥ ५ ॥



षष्ठ अनुवाक

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः।

सः=वह (पहले बताया हुआ); **यः**=जो; **एषः**=यह; **अन्तर्हृदये**=हृदयके भीतर; **आकाशः**=आकाश है; **तस्मिन्**=उसमें; **अयम्**=यह; **हिरण्मयः**=विशुद्ध प्रकाशस्वरूप; **अमृतः**=अविनाशी; **मनोमयः**=मनोमय; **पुरुषः**=पुरुष (परमेश्वर) रहता है।

व्याख्या—इस अनुवाकमें चार बातें कही गयी हैं, उनका पूर्व अनुवाकमें बतलाये हुए उपदेशसे अलग-अलग सम्बन्ध है और उस उपदेशकी पूर्तिके लिये ही यह आरम्भ किया गया है, ऐसा अनुमान होता है।

पूर्व अनुवाकमें मनके अधिष्ठातृ-देवता चन्द्रमाको इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवताओंका प्रकाशक बताया गया है और उसकी ब्रह्मरूपसे उपासना करनेकी युक्ति समझायी गयी है; वे मनोमय परब्रह्म—सबके अन्तर्यामी पुरुष कहाँ हैं; उनकी उपलब्धि कहाँ होती है—यह बात इस अनुवाकके पहले अंशमें समझायी गयी है। अनुवाकके इस अंशका अभिप्राय यह है कि पहले बतलाया हुआ जो यह हृदयके भीतर अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला आकाश है, उसीमें ये विशुद्ध प्रकाशस्वरूप अविनाशी मनोमय अन्तर्यामी परम पुरुष परमेश्वर विराजमान हैं; वहीं उनका साक्षात्कार हो जाता है, उन्हें पानेके लिये कहीं दूसरी जगह नहीं जाना पड़ता।

अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले। भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ। सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि।

अन्तरेण तालुके=दोनों तालुओंके बीचमें; **यः**=जो; **एषः**=यह; **स्तनः इव**=स्तनके सदृश; **अवलम्बते**=लटक रहा है; **[तम् अपि अन्तरेण]**=उसके भी भीतर; **यत्र**=जहाँ; **असौ**=वह; **केशान्तः**=केशोंका मूलस्थान (ब्रह्मरन्ध्र); **विवर्तते**=स्थित है; (वहाँ) **शीर्षकपाले**=सिरके दोनों कपालोंको;

व्यपोह्य=भेदन करके; **[विनिःसृता या]**=निकली हुई जो सुषुम्णा नाड़ी है; **सा**=वह; **इन्द्रयोनिः**=इन्द्रयोनि (परमात्माकी प्राप्तिका द्वार) है; (अन्तकालमें साधक) **भूः इति**='भूः' इस व्याहृतिके अर्थरूप; **अग्नौ**=अग्निमें; **प्रतितिष्ठति**=प्रतिष्ठित होता है; **भुवः इति**='भुवः' इस व्याहृतिके अर्थरूप; **वायौ**=वायुदेवतामें स्थित होता है; (फिर) **सुवः इति**='स्वः' इस व्याहृतिके अर्थरूप; **आदित्ये**=सूर्यमें स्थित होता है; (उसके बाद) **महः इति**='महः' इस व्याहृतिके अर्थस्वरूप; **ब्रह्मणि**=ब्रह्ममें स्थित होता है।

व्याख्या—उन परब्रह्म परमेश्वरको अपने हृदयमें प्रत्यक्ष देखनेवाला महापुरुष इस शरीरका त्याग करके जब जाता है, तब किस प्रकार किस मार्गसे बाहर निकलकर किस क्रमसे भूः, भुवः और स्वःरूप समस्त लोकोंमें परिपूर्ण सबके आत्मरूप परमेश्वरमें स्थित होता है—यह बात इस अनुवाकके दूसरे अंशमें समझायी गयी है। भाव यह है कि मनुष्योंके मुखमें तालुओंके बीचोबीच जो एक थनके आकारका मांस-पिण्ड लटकता है, जिसे बोलचालकी भाषामें 'घाँटी' कहते हैं, उसके आगे केशोंका मूलस्थान ब्रह्मरन्ध्र है; वहाँ हृदय-देशसे निकलकर घाँटीके भीतरसे होती हुई दोनों कपोलोंको भेदकर गयी हुई जो सुषुम्णा नामसे प्रसिद्ध नाड़ी है, वही उन इन्द्र नामसे कहे जानेवाले परमेश्वरकी प्राप्तिका द्वार है। अन्तकालमें वह महापुरुष उस मार्गसे शरीरके बाहर निकलकर 'भूः' इस नामसे अभिहित अग्निमें स्थित होता है। गीतामें भी यही बात कही गयी है कि ब्रह्मवेत्ता जब ब्रह्मलोकमें जाता है, तब वह सर्वप्रथम ज्योतिर्मय अग्निके अभिमानी देवताके अधिकारमें आता है (गीता ८। २४)। उसके बाद वायुमें स्थित होता है। अर्थात् पृथ्वीसे लेकर सूर्यलोकतक समस्त आकाशमें जिसका अधिकार है, जो सर्वत्र विचरनेवाली वायुका अभिमानी देवता है और जो 'भुवः' नामसे पञ्चम अनुवाकमें कहा गया है, उसीके अधिकारमें वह आता है। वह देवता उसे 'स्वः' इस नामसे कहे हुए सूर्यलोकमें पहुँचा देता है, वहाँसे फिर वह 'महः' इस नामसे कहे हुए 'ब्रह्म' में स्थित हो जाता है।

आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पति-श्चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः। एतत्ततो भवति।

स्वाराज्यम्=(वह) स्वराज्यको; **आप्नोति**=प्राप्त कर लेता है; **मनसस्पतिम्**=मनके स्वामीको; **आप्नोति**=पा लेता है; **वाक्पतिः [भवति]**=वाणीका स्वामी हो जाता है; **चक्षुष्पतिः**=नेत्रोंका स्वामी; **श्रोत्रपतिः**=कानोंका स्वामी; (और) **विज्ञानपतिः**=विज्ञानका स्वामी हो जाता है; **ततः**=उस पहले बताये हुए साधनसे; **एतत्**=यह फल; **भवति**=होता है।

व्याख्या—वह ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित महापुरुष कैसा हो जाता है—यह बात इस अनुवाकके तीसरे अंशमें बतलायी गयी है। अनुवाकके इस अंशका अभिप्राय यह है कि वह स्वराट् बन जाता है। अर्थात् उसपर प्रकृतिका अधिकार नहीं रहता, अपितु वह स्वयं ही प्रकृतिका अधिष्ठाता बन जाता है; क्योंकि वह मनके अर्थात् समस्त अन्तःकरणसमुदायके स्वामी परमात्माको प्राप्त कर लेता है, इसलिये वह वाणी, चक्षु, श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियों और उनके देवताओंका तथा विज्ञानस्वरूप बुद्धिका भी स्वामी हो जाता है। अर्थात् ये सब उसके अधीन हो जाते हैं। उस पहले बताये हुए साधनसे यह उपर्युक्त फल मिलता है।

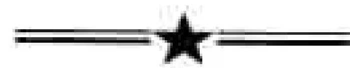
आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्म प्राणारामं मनआनन्दम्। शान्तिसमृद्धममृतम्। इति प्राचीनयोग्योपास्स्व।

ब्रह्म=वह ब्रह्म; **आकाशशरीरम्**=आकाशके सदृश शरीरवाला; **सत्यात्म**=सत्तारूप; **प्राणारामम्**=इन्द्रियादि समस्त प्राणोंको विश्राम देनेवाला; **मनआनन्दम्**=मनको आनन्द देनेवाला; **शान्तिसमृद्धम्**=शान्तिसे सम्पन्न; (तथा) **अमृतम्**=अविनाशी है; **इति**=यों मानकर; **प्राचीनयोग्य**=हे प्राचीन-योग्य !; **उपास्स्व**=तू उसकी उपासना कर।

व्याख्या—वे प्राप्तव्य ब्रह्म कैसे हैं, उनका किस प्रकार चिन्तन और ध्यान करना चाहिये—यह बात इस अनुवाकके चौथे अंशमें बतायी गयी है। अभिप्राय यह है कि वे ब्रह्म आकाशके सदृश निराकार, सर्वव्यापी और अतिशय सूक्ष्म शरीरवाले हैं। एकमात्र सत्तारूप हैं। समस्त इन्द्रियोंको विश्राम

देनेवाले और मनके लिये परम आनन्ददायक हैं। अखण्ड शान्तिके भण्डार हैं और सर्वथा अविनाशी हैं। परम विश्वासके साथ यों मानकर साधकको उनकी प्राप्तिके लिये उनके चिन्तन और ध्यानमें तत्परताके साथ लग जाना चाहिये, यह भाव दिखलानेके लिये अन्तमें श्रुतिकी वाणीमें ऋषि अपने शिष्यसे कहते हैं—'हे प्राचीनयोग्य !* तू उन ब्रह्मका स्वरूप इस प्रकारका मानकर उनकी उपासना कर।'

॥ षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥ ६ ॥



सप्तम अनुवाक

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः। अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्। अथाध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्। चर्म माँसँ स्नावास्थि मज्जा। एतदधिविधाय ऋषिरवोचत्। पाङ्क्तं वा इदँ सर्वम्। पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तँ स्पृणोतीति।

पृथिवी=पृथ्वीलोक; **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक; **द्यौः**=स्वर्गलोक; **दिशः**=दिशाएँ; **अवान्तरदिशः**=अवान्तर दिशाएँ—दिशाओंके बीचके कोण (यह पाँच लोकोंकी पङ्क्ति है); **अग्निः**=अग्नि; **वायुः**=वायु; **आदित्यः**=सूर्य; **चन्द्रमाः**=चन्द्रमा; **नक्षत्राणि**=(तथा) समस्त नक्षत्र (यह पाँच ज्योतिःसमुदायकी पङ्क्ति है); **आपः**=जल; **ओषधयः**=ओषधियाँ; **वनस्पतयः**=वनस्पतियाँ; **आकाशः**=आकाश; **आत्मा**=(तथा) इनका संघातस्वरूप अन्नमय स्थूलशरीर (ये पाँचों मिलकर स्थूल पदार्थोंकी पङ्क्ति है); **इति**=यह; **अधिभूतम्**=आधिभौतिक दृष्टिसे वर्णन हुआ; **अथ**=अब; **अध्यात्मम्**=

* पहलेसे ही जिसमें ब्रह्मप्राप्तिकी योग्यता हो, वह 'प्राचीनयोग्य' है। अथवा यह शिष्यका नाम है।

आध्यात्मिक दृष्टिसे बतलाते हैं; **प्राणः**=प्राण; **व्यानः**=व्यान; **अपानः**=अपान; **उदानः**=उदान; (और) **समानः**=समान (यह पाँचों प्राणोंकी पङ्क्ति है); **चक्षुः**=नेत्र; **श्रोत्रम्**=कान; **मनः**=मन; **वाक्**=वाणी; (और) **त्वक्**=त्वचा; (यह पाँचों करणोंकी पङ्क्ति है); **चर्म**=चर्म; **मांसम्**=मांस; **स्नावा**=नाड़ी; **अस्थि**=हड्डी; (और) **मज्जा**=मज्जा (यह पाँच शरीरगत धातुओंकी पङ्क्ति है); **एतत्**=यह (इस प्रकार); **अधिविधाय**=सम्यक् कल्पना करके; **ऋषिः**=ऋषिने; **अवोचत्**=कहा; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=सब; **वै**=निश्चय ही; **पाङ्क्तम्**=पाङ्क्त है*; **पाङ्क्तेन एव पाङ्क्तम्**=(साधक) इस आध्यात्मिक पाङ्क्तसे ही बाह्य पाङ्क्तको और बाह्यसे अध्यात्म पाङ्क्तको; **स्पृणोति इति**=पूर्ण करता है।

व्याख्या—इस अनुवाकके दो भाग हैं। पहले भागमें मुख्य-मुख्य आधिभौतिक पदार्थोंको लोक, ज्योति और स्थूल पदार्थ—इन तीन पङ्क्तियोंमें विभक्त करके उनका वर्णन किया है और दूसरे भागमें मुख्य-मुख्य आध्यात्मिक (शरीरस्थित) पदार्थोंको प्राण, कारण और धातु— इन तीन पङ्क्तियोंमें विभक्त करके उनका वर्णन किया है। अन्तमें उनका उपयोग करनेकी युक्ति बतायी गयी है।

भाव यह है कि पृथ्वीलोक, अन्तरिक्षलोक, स्वर्गलोक, पूर्व-पश्चिम आदि दिशाएँ और आग्नेय, नैर्ऋत्य आदि अवान्तर दिशाएँ—इस प्रकार यह लोकोंकी आधिभौतिक पङ्क्ति है। अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र—इस प्रकार यह ज्योतियोंकी आधिभौतिक पङ्क्ति है तथा जल, ओषधियाँ, वनस्पति, आकाश और पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर—इस प्रकार यह स्थूल जड पदार्थोंकी आधिभौतिक पङ्क्ति है। यह सब मिलकर आधिभौतिक पाङ्क्त अर्थात् भौतिक पङ्क्तियोंका समूह है। इसी प्रकार यह आगे बताया हुआ आध्यात्मिक शरीरके भीतर रहनेवाला पाङ्क्त है। इसमें प्राण, व्यान, अपान,

* पङ्क्तियोंके समूहको ही 'पाङ्क्त' कहते हैं।

उदान और समान—इस प्रकार यह प्राणोंकी पङ्क्ति है। नेत्र, कान, मन, वाणी और त्वचा—इस प्रकार यह करण-समुदायकी पङ्क्ति है; तथा चर्म, मांस, नाड़ी, हड्डी और मज्जा—इस प्रकार यह शरीरगत धातुओंकी पङ्क्ति है। इस प्रकार प्रधान-प्रधान आधिभौतिक और आध्यात्मिक पदार्थोंकी त्रिविध पङ्क्तियाँ बनाकर वर्णन करना यहाँ उपलक्षणरूपमें है, अतः शेष पदार्थोंको भी इनके अन्तर्गत समझ लेना चाहिये। इस प्रकार वर्णन करनेके बाद श्रुति कहती है कि ये पङ्क्तियोंमें विभक्त करके बताये हुए पदार्थ सब-के-सब पङ्क्तियोंके समुदाय हैं। इनका आपसमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस रहस्यको समझकर अर्थात् किस आधिभौतिक पदार्थके साथ किस आध्यात्मिक पदार्थका क्या सम्बन्ध है, इस बातको भलीभाँति समझकर मनुष्य आध्यात्मिक शक्तिसे भौतिक पदार्थोंका विकास कर लेता है और भौतिक पदार्थोंसे आध्यात्मिक शक्तियोंकी उन्नति कर लेता है।

पहली आधिभौतिक लोकसम्बन्धी पङ्क्तिसे चौथी प्राण-समुदायरूप आध्यात्मिक पङ्क्तिका सम्बन्ध है; क्योंकि एक लोकसे दूसरे लोकको सम्बद्ध करनेमें प्राणोंकी ही प्रधानता है—यह बात संहिता-प्रकरणमें पहले बता आये हैं। दूसरी ज्योतिविषयक आधिभौतिक पङ्क्तिसे पाँचवीं करण-समुदायरूप आध्यात्मिक पङ्क्तिका सम्बन्ध है; क्योंकि वे आधिभौतिक ज्योतियाँ इन आध्यात्मिक ज्योतियोंकी सहायक हैं, यह बात शास्त्रोंमें जगह-जगह बतायी गयी है। इसी प्रकार तीसरी जो स्थूल पदार्थोंकी आधिभौतिक पङ्क्ति है, उसका छठी शरीरगत धातुओंकी आध्यात्मिक पङ्क्तिसे सम्बन्ध है; क्योंकि ओषधि और वनस्पतिरूप अन्नसे ही मांस-मज्जा आदिकी पुष्टि और वृद्धि होती है, यह प्रत्यक्ष है। इस प्रकार प्रत्येक स्थूल और सूक्ष्म तत्त्वको भलीभाँति समझकर उनका उपयोग करनेसे मनुष्य सब प्रकारकी सांसारिक उन्नति कर सकता है, यही इस वर्णनका भाव मालूम होता है।

॥ सप्तम अनुवाक समाप्त ॥ ७ ॥



****

अष्टम अनुवाक

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदँ्सर्वम्। ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओँ्शोमिति। शस्त्राणि शँ्सन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति।

ओम्='ओम्'; **इति**=यह; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **ओम्**='ओम्'; **इति**=ही; **इदम्**=यह प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला; **सर्वम्**=समस्त जगत् है; **ओम्**='ओम्'; **इति**=इस प्रकारका; **एतत्**=यह अक्षर; **ह**=ही; **वै**=निःसंदेह; **अनुकृतिः**=अनुकृति (अनुमोदन) है; **स्म**=यह बात प्रसिद्ध है; **अपि**=इसके सिवा; **ओ**=हे आचार्य; **श्रावय**=मुझे सुनाइये; **इति**=यों कहनेपर; **आश्रावयन्ति**=('ओम्' यों कहकर शिष्यको) उपदेश सुनाते हैं; **ओम्**='ओम्' (बहुत अच्छा); **इति**=इस प्रकार (स्वीकृति देकर); **[सामगाः]**=सामगायक विद्वान्; **सामानि**=सामवेद-मन्त्रोंको; **गायन्ति**=गाते हैं; **ओम् शोम्**='ओम् शोम्'; **इति**=यों कहकर ही; **शस्त्राणि**=शस्त्रोंको अर्थात् मन्त्रोंको; **शंसन्ति**=पढ़ते हैं; **ओम्**='ओम्'; **इति**=यों कहकर; **अध्वर्युः**=अध्वर्यु नामक ऋत्विक्; **प्रतिगरम् प्रतिगृणाति**=प्रतिगर मन्त्रका उच्चारण करता है; **ओम्**='ओम्'; **इति**=यों कहकर; **ब्रह्मा**=ब्रह्मा (चौथा ऋत्विक्); **प्रसौति**=अनुमति देता है; **ओम्**='ओम्'; **इति**=यह कहकर; **अग्निहोत्रम् अनुजानाति**=अग्निहोत्र करनेकी आज्ञा देता है; **प्रवक्ष्यन्**=अध्ययन करनेके लिये उद्यत; **ब्राह्मणः**=ब्राह्मण; **ओम् इति**=पहले ओम्का उच्चारण करके; **आह**=कहता है; **ब्रह्म**=(मैं) वेदको; **उपाप्नवानि इति**=प्राप्त करूँ; **ब्रह्म**=(फिर वह) वेदको; **एव**=निश्चय ही; **उपाप्नोति**=प्राप्त करता है।

व्याख्या—इस अनुवाकमें 'ॐ' इस परमेश्वरके नामके प्रति मनुष्यकी श्रद्धा और रुचि उत्पन्न करनेके लिये 'ॐ'कारकी महिमाका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि 'ॐ' यह परब्रह्म परमात्माका नाम होनेसे साक्षात् ब्रह्म

ही है; क्योंकि भगवान्‌का नाम भी भगवत्स्वरूप ही होता है। यह प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला समस्त जगत् 'ॐ' अर्थात् उस ब्रह्मका ही स्थूलरूप है। 'ॐ' यह अनुकृति अर्थात् अनुमोदनका सूचक है। अर्थात् जब किसीकी बातका अनुमोदन करना होता है, तब श्रेष्ठ पुरुष परमेश्वरके नामस्वरूप इस 'ॐ'कारका उच्चारण करके संकेतसे उसका अनुमोदन कर दिया करते हैं, दूसरे व्यर्थ शब्द नहीं बोलते—यह बात प्रसिद्ध है। जब शिष्य अपने गुरुसे तथा श्रोता किसी व्याख्यानदातासे उपदेश सुनानेके लिये प्रार्थना करता है, तब गुरु और वक्ता भी 'ॐ' इस प्रकार कहकर ही उपदेश सुनाना आरम्भ करते हैं। सामवेदका गान करनेवाले भी 'ॐ' इस प्रकार पहले परमेश्वरके नामका भलीभाँति गान करके उसके बाद सामवेदका गान किया करते हैं। यज्ञकर्ममें शस्त्र-शंसनरूप कर्म करनेवाले शास्ता नामक ऋत्विक् 'ओम् शोम्' इस प्रकार कहकर ही शस्त्रोंका अर्थात् तद्विषयक मन्त्रोंका पाठ करते हैं। यज्ञकर्म करानेवाला अध्वर्यु नामक ऋत्विक् भी 'ॐ' इस परमेश्वरके नामका उच्चारण करके ही प्रतिगर-मन्त्रका उच्चारण करता है। ब्रह्मा (चौथा ऋत्विक्) भी 'ॐ' इस प्रकार परमात्माके नामका उच्चारण करके यज्ञकर्म करनेके लिये अनुमति देता है तथा 'ॐ' यों कहकर ही अग्निहोत्र करनेकी आज्ञा देता है। अध्ययन करनेके लिये उद्यत ब्राह्मण ब्रह्मचारी भी 'ॐ' इस प्रकार परमेश्वरके नामका पहले उच्चारण करके कहता है कि 'मैं वेदको भली प्रकार पढ़ सकूँ।' अर्थात् ॐकार जिसका नाम है, उस परमेश्वरसे ॐकारके उच्चारणपूर्वक यह प्रार्थना करता है कि 'मैं वेदको—वैदिक ज्ञानको प्राप्त कर लूँ—ऐसी बुद्धि दीजिये।' इसके फलस्वरूप वह वेदको निःसंदेह प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार इस मन्त्रमें ॐकारकी महिमाका वर्णन है।

॥ अष्टम अनुवाक समाप्त ॥ ८ ॥



नवम अनुवाक

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्याय-प्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः।

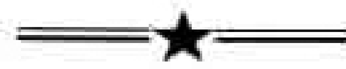
ऋतम्=यथायोग्य सदाचारका पालन; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=शास्त्रका पढ़ना-पढ़ाना भी (यह सब अवश्य करना चाहिये); **सत्यम्**=सत्यभाषण; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **तपः**=तपश्चर्या; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **दमः**=इन्द्रियोंका दमन; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **शमः**=मनका निग्रह; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **अग्नयः**=अग्नियोंका चयन; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **अग्निहोत्रम्**=अग्निहोत्र; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **अतिथयः**=अतिथियोंकी सेवा; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **मानुषम्**=मनुष्योचित लौकिक व्यवहार; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **प्रजा**= गर्भाधानसंस्काररूप कर्म; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **प्रजनः**=शास्त्रविधिके अनुसार स्त्रीसहवास; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये);

प्रजातिः=कुटुम्बवृद्धिका कर्म; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=शास्त्रका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये;) **सत्यम्**=सत्य ही इनमें श्रेष्ठ है; **इति**=यों; **राथीतरः**=रथीतरका पुत्र; **सत्यवचाः**=सत्यवचा ऋषि कहते हैं; **तपः**=तप ही सर्वश्रेष्ठ है; **इति**=यों; **पौरुशिष्टिः**=पुरुशिष्टका पुत्र; **तपोनित्यः**=तपोनित्य नामक ऋषि कहते हैं; **स्वाध्यायप्रवचने एव**=वेदका पढ़ना-पढ़ाना ही सर्वश्रेष्ठ है; **इति**=यों; **मौद्गल्यः**=मुद्गलके पुत्र; **नाकः**='नाक' मुनि कहते हैं; **हि**=क्योंकि; **तत्**=वही; **तपः**=तप है; **तत् हि**=वही; **तपः**=तप है।

व्याख्या—इस अनुवाकमें यह बात समझायी गयी है कि अध्ययन और अध्यापन करनेवालोंको अध्ययन-अध्यापनके साथ-साथ शास्त्रोंमें बताये हुए मार्गपर स्वयं चलना भी चाहिये। यही बात उपदेशक और उपदेश सुननेवालोंके विषयमें भी समझनी चाहिये। अभिप्राय यह है कि अध्ययन और अध्यापन दोनों बहुत ही उपयोगी हैं, शास्त्रोंके अध्ययनसे ही मनुष्यको अपने कर्तव्यका तथा उसकी विधि और फलका ज्ञान होता है; अतः इसे करते हुए ही उसके साथ-साथ यथायोग्य सदाचारका पालन, सत्यभाषण, स्वधर्म पालनके लिये बड़े-से-बड़ा कष्ट सहना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, मनको वशमें रखना, अग्निहोत्रके लिये अग्निको प्रदीप्त करना, फिर उसमें हवन करना, अतिथिकी यथायोग्य सेवा करना, सबके साथ सुन्दर मनुष्योचित लौकिक व्यवहार करना, शास्त्रविधिके अनुसार गर्भाधान करना और ऋतुकालमें नियमितरूपसे स्त्री-सहवास करना तथा कुटुम्बको बढ़ानेका उपाय करना—इस प्रकार इन सभी श्रेष्ठ कर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिये। अध्यापक तथा उपदेशकके लिये तो इन सब कर्तव्योंका समुचित पालन और भी आवश्यक है; क्योंकि उनके आदर्शका अनुकरण उनके छात्र तथा श्रोता ग्रहण करते हैं। रथीतरके पुत्र सत्यवचा नामक ऋषिका कहना है कि 'इन सब कर्मोंमें सत्य ही सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि प्रत्येक कर्म सत्यभाषण और सत्यभावपूर्वक किये जानेपर ही यथार्थरूपसे सम्पन्न होता है।' पुरुशिष्ट-पुत्र तपोनित्य नामक ऋषिका कहना है कि 'तपश्चर्या ही सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि

तपसे ही सत्यभाषण आदि समस्त धर्मोंके पालन करनेकी और उनमें दृढ़तापूर्वक स्थित रहनेकी शक्ति आती है।' मुद्गलके पुत्र नाक नामक मुनिका कहना है कि 'वेद और धर्मशास्त्रोंका पठन-पाठन ही सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि वही तप है, वही तप है अर्थात् इन्हींसे तप आदि समस्त धर्मोंका ज्ञान होता है।' इन सभी ऋषियोंका कहना यथार्थ है। उनके कथनको उद्धृत करके यह भाव दिखाया गया है कि प्रत्येक कर्ममें इन तीनोंकी प्रधानता रहनी चाहिये। जो कुछ कर्म किया जाय, वह पठन-पाठनसे उपलब्ध शास्त्रज्ञानके अनुकूल होना चाहिये। कितने ही विघ्न क्यों न उपस्थित हों, अपने कर्तव्यपालनरूप तपमें सदा दृढ़ रहना चाहिये और प्रत्येक क्रियामें सत्यभाव और सत्यभाषणपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

॥ नवम अनुवाक समाप्त ॥ ९ ॥



दशम अनुवाक

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणँ् सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्।

अहम्=मैं; **वृक्षस्य**=संसारवृक्षका; **रेरिवा**=उच्छेद करनेवाला हूँ; **[मम]** **कीर्तिः**=मेरी कीर्ति; **गिरेः**=पर्वतके; **पृष्ठम् इव** =शिखरकी भाँति उन्नत है; **वाजिनि**=अन्नोत्पादक शक्तिसे युक्त सूर्यमें; **स्वमृतम् इव**=जैसे उत्तम अमृत है, उसी प्रकार मैं भी; **ऊर्ध्वपवित्रः अस्मि**=अतिशय पवित्र अमृतस्वरूप हूँ; (तथा मैं) **सवर्चसम्**=प्रकाशयुक्त; **द्रविणम्**=धनका भण्डार हूँ; **अमृतोक्षितः**=(परमानन्दमय) अमृतसे अभिषिञ्चित (तथा); **सुमेधाः**=श्रेष्ठ बुद्धिवाला हूँ; **इति**=इस प्रकार (यह); **त्रिशङ्कोः**=त्रिशङ्कु ऋषिका; **वेदानुवचनम्**=अनुभव किया हुआ वैदिक प्रवचन है।

व्याख्या—त्रिशङ्कु नामक ऋषिने परमात्माको प्राप्त होकर जो अपना अनुभव व्यक्त किया था, उसे ही इस अनुवाकमें उद्धृत किया गया है।

त्रिशङ्कुके वचनानुसार अपने अन्तःकरणमें भावना करना भी परमात्माकी प्राप्तिका साधन है, यही बतानेके लिये इस अनुवाकका आरम्भ हुआ है। श्रुतिका भावार्थ यह है कि मैं प्रवाहरूपमें अनादिकालसे चले आते हुए इस जन्म-मृत्युरूप संसारवृक्षका उच्छेद करनेवाला हूँ। यह मेरा अन्तिम जन्म है। इसके बाद मेरा पुनः जन्म नहीं होनेका। मेरी कीर्ति पर्वत-शिखरकी भाँति उन्नत एवं विशाल है। अन्नोत्पादक शक्तिसे युक्त सूर्यमें जैसे उत्तम अमृतका निवास है, उसी प्रकार मैं भी विशुद्ध रोग-दोष आदिसे सर्वथा मुक्त हूँ, अमृतस्वरूप हूँ। इसके सिवा मैं प्रकाशयुक्त धनका भण्डार हूँ, परमानन्दरूप अमृतमें निमग्न और श्रेष्ठ धारणायुक्त बुद्धिसे सम्पन्न हूँ। इस प्रकार यह त्रिशङ्कु ऋषिका वेदानुवचन है अर्थात् ज्ञानप्राप्तिके बाद व्यक्त किया हुआ आत्माका उद्गार है।

मनुष्य जिस प्रकारकी भावना करता है, वैसा ही बन जाता है, उसके संकल्पमें यह अपूर्व—आश्चर्यजनक शक्ति है। अतः जो मनुष्य अपनेमें उपर्युक्त भावनाका अभ्यास करेगा वह निश्चय वैसा ही बन जायगा। परंतु इस साधनमें पूर्ण सावधानीकी आवश्यकता है। यदि भावनाके अनुसार गुण न आकर अभिमान आ गया तो पतन भी हो सकता है। यदि इस वेदानुवचनके रहस्यको ठीक समझकर इसकी भावना की जाय तो अभिमानकी आशङ्का भी नहीं की जा सकती।

॥ दशम अनुवाक समाप्त ॥ १० ॥



एकादश अनुवाक

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

वेदम् अनूच्य=वेदका भलीभाँति अध्ययन कराकर; **आचार्यः**=आचार्य; **अन्तेवासिनम्**=अपने आश्रममें रहनेवाले ब्रह्मचारी विद्यार्थीको; **अनुशास्ति**=शिक्षा देता है; **सत्यम् वद**=तुम सत्य बोलो; **धर्मम् चर**=धर्मका आचरण करो; **स्वाध्यायात्**=स्वाध्यायसे; **मा प्रमदः**=कभी न चूको; **आचार्याय**=आचार्यके लिये; **प्रियम् धनम्**=दक्षिणाके रूपमें वाञ्छित धन; **आहृत्य**=लाकर (दो; फिर उनकी आज्ञासे गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करके); **प्रजातन्तुम्**=संतान-परम्पराको (चालू रखो, उसका); **मा व्यवच्छेत्सीः**=उच्छेद न करना; **सत्यात्**=(तुमको) सत्यसे; **न प्रमदितव्यम्**=कभी नहीं डिगना चाहिये; **धर्मात्**=धर्मसे; **न**=नहीं; **प्रमदितव्यम्**=डिगना चाहिये; **कुशलात्**=शुभ कर्मोंसे; **न प्रमदितव्यम्**=कभी नहीं चूकना चाहिये; **भूत्यै**=उन्नतिके साधनोंसे; **न प्रमदितव्यम्**=कभी नहीं चूकना चाहिये; **स्वाध्यायप्रवचनाभ्याम्**=वेदोंके पढ़ने और पढ़ानेमें; **न प्रमदितव्यम्**=कभी भूल नहीं करनी चाहिये; **देवपितृकार्याभ्याम्**=देवकार्यसे और पितृकार्यसे; **न प्रमदितव्यम्**=कभी नहीं चूकना चाहिये।

व्याख्या—गृहस्थको अपना जीवन कैसा बनाना चाहिये, यह बात समझानेके लिये इस अनुवाकका आरम्भ किया गया है। आचार्य शिष्यको वेदका भलीभाँति अध्ययन कराकर समावर्तन-संस्कारके समय गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके गृहस्थ-धर्मका पालन करनेकी शिक्षा देते हैं—पुत्र! तुम सदा सत्य-भाषण करना, आपत्ति पड़नेपर भी झूठका कदापि आश्रय न लेना, अपने वर्ण-आश्रमके अनुकूल शास्त्र-सम्मत धर्मका अनुष्ठान करना, स्वाध्यायसे अर्थात् वेदोंके अभ्यास, संध्यावन्दन, गायत्रीजप और भगवन्नाम-गुणकीर्तन आदि नित्यकर्ममें कभी भी प्रमाद न करना—अर्थात् न तो कभी उन्हें अनादरपूर्वक करना और न आलस्यवश उनका त्याग ही करना। गुरुके लिये दक्षिणाके रूपमें उनकी रुचिके अनुरूप धन लाकर प्रेमपूर्वक देना; फिर उनकी आज्ञासे गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके स्वधर्मका पालन करते हुए संतान-परम्पराको सुरक्षित रखना—उसका लोप न करना। अर्थात् शास्त्रविधिके अनुसार विवाहित धर्मपत्नीके साथ ऋतुकालमें नियमित सहवास

करके संतानोत्पत्तिका कार्य अनासक्तिपूर्वक करना। तुमको कभी भी सत्यसे नहीं चूकना चाहिये अर्थात् हँसी-दिल्लगी या व्यर्थकी बातोंमें वाणीकी शक्तिको न तो नष्ट करना चाहिये और न परिहास आदिके बहाने कभी झूठ ही बोलना चाहिये। इसी प्रकार धर्मपालनमें भी भूल नहीं करनी चाहिये अर्थात् कोई बहाना बनाकर या आलस्यवश कभी धर्मकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। लौकिक और शास्त्रीय—जितने भी कर्तव्यरूपसे प्राप्त शुभ कर्म हैं, उनका कभी त्याग या उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, अपितु यथायोग्य उनका अनुष्ठान करते रहना चाहिये। धन-सम्पत्तिको बढ़ानेवाले लौकिक उन्नतिके साधनोंके प्रति भी उदासीन नहीं होना चाहिये। इसके लिये भी वर्णाश्रमानुकूल चेष्टा करनी चाहिये। पढ़ने और पढ़ानेका जो मुख्य नियम है, उसकी कभी अवहेलना या आलस्य-पूर्वक त्याग नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार अग्निहोत्र और यज्ञादिके अनुष्ठान-रूप देवकार्य तथा श्राद्ध-तर्पण आदि पितृकार्योंके सम्पादनमें भी आलस्य या अवहेलनापूर्वक प्रमाद नहीं करना चाहिये।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकँ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयाँसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयादेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

मातृदेवः भव=तुम मातामें देवबुद्धि करनेवाले बनो; **पितृदेवः भव**=पिताको देवरूप समझनेवाले होओ; **आचार्यदेवः भव**=आचार्यको देवरूप समझनेवाले बनो; **अतिथिदेवः भव**=अतिथिको देवतुल्य समझनेवाले होओ; **यानि**=जो-जो; **अनवद्यानि**=निर्दोष; **कर्माणि**=कर्म हैं; **तानि**=उन्हींका; **सेवितव्यानि** =तुम्हें सेवन करना चाहिये; **इतराणि**=दूसरे (दोषयुक्त) कर्मोंका; **नो**=कभी आचरण नहीं करना चाहिये; **अस्माकम्**=हमारे (आचरणोंमेंसे भी); **यानि**=जो-जो; **सुचरितानि**=अच्छे आचरण हैं;

तानि=उनका ही; **त्वया**=तुमको; **उपास्यानि**=सेवन करना चाहिये; **इतराणि**=दूसरोंका; **नो**=कभी नहीं; **ये के च**=जो कोई भी; **अस्मत्**=हमसे; **श्रेयांसः**=श्रेष्ठ (गुरुजन एवं); **ब्राह्मणाः**=ब्राह्मण आयें; **तेषाम्**=उनको; **त्वया**=तुम्हें; **आसनेन**=आसन-दान आदिके द्वारा सेवा करके; **प्रश्वसितव्यम्**=विश्राम देना चाहिये; **श्रद्धया देयम्**=श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिये; **अश्रद्धया**=बिना श्रद्धाके; **अदेयम्**=नहीं देना चाहिये; **श्रिया देयम्**=आर्थिक स्थितिके अनुसार देना चाहिये; **ह्रिया देयम्**=लज्जासे देना चाहिये; **भिया देयम्**=भयसे भी देना चाहिये (और); **संविदा देयम्**=(जो कुछ भी दिया जाय, वह सब) विवेकपूर्वक देना चाहिये।

व्याख्या—पुत्र ! तुम मातामें देवबुद्धि रखना, पितामें भी देवबुद्धि रखना, आचार्यमें देवबुद्धि रखना तथा अतिथिमें भी देवबुद्धि रखना। आशय यह कि इन चारोंको ईश्वरकी प्रतिमूर्ति समझकर श्रद्धा और भक्तिपूर्वक सदा इनकी आज्ञाका पालन, नमस्कार और सेवा करते रहना; इन्हें सदा अपने विनयपूर्ण व्यवहारसे प्रसन्न रखना। जगत्‌में जो-जो निर्दोष कर्म हैं, उन्हींका तुम्हें सेवन करना चाहिये। उनसे भिन्न जो दोषयुक्त—निषिद्ध कर्म हैं, उनका कभी भूलकर—स्वप्नमें भी आचरण नहीं करना चाहिये। हमारे—अपने गुरुजनोंके आचार-व्यवहारमें भी जो उत्तम—शास्त्र एवं शिष्ट पुरुषोंद्वारा अनुमोदित आचरण हैं, जिनके विषयमें किसी प्रकारकी शङ्काको स्थान नहीं है, उन्हींका तुम्हें अनुकरण करना चाहिये, उन्हींका सेवन करना चाहिये। जिनके विषयमें जरा-सी भी शङ्का हो, उनका अनुकरण कभो नहीं करना चाहिये। जो कोई भी हमसे श्रेष्ठ—वय, विद्या, तप, आचरण आदिमें बड़े तथा ब्राह्मण आदि पूज्य पुरुष घरपर पधारें, उनको पाद्य, अर्घ्य, आसन आदि प्रदान करके सब प्रकारसे उनका सम्मान तथा यथायोग्य सेवा करनी चाहिये। अपनी शक्तिके अनुसार दान करनेके लिये तुम्हें सदा उदारतापूर्वक तत्पर रहना चाहिये। जो कुछ भी दिया जाय, वह श्रद्धापूर्वक देना चाहिये। अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिये; क्योंकि बिना श्रद्धाके किये हुए दान आदि कर्म असत् माने गये हैं (गीता १७। २७)। लज्जापूर्वक देना चाहिये अर्थात् सारा

धन भगवान्का है, मैं यदि इसे अपना मानूँ तो यह अपराध है। इसे सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित भगवान्की सेवामें ही लगाना मेरा कर्तव्य है। मैं जो कुछ दे रहा हूँ, वह भी बहुत कम है। यों सोचकर संकोचका अनुभव करते हुए देना चाहिये। मनमें दानीपनके अभिमानको नहीं आने देना चाहिये। सर्वत्र और सबमें भगवान् हैं, अतः दान लेनेवाले भी भगवान् ही हैं। उनकी बड़ी कृपा है कि मेरा दिया हुआ स्वीकार कर रहे हैं। यों विचारकर भगवान्से भय मानते हुए दान देना चाहिये। 'हम किसीका उपकार कर रहे हैं' ऐसी भावना मनमें लाकर अभिमान या अविनय नहीं प्रकट करना चाहिये। परंतु जो कुछ दिया जाय—वह विवेकपूर्वक, उसके परिणामको समझकर निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर देना चाहिये (गीता १७। २०)। इस प्रकार दिया हुआ दान ही भगवान्की प्रीतिका—कल्याणका साधन हो सकता है। वही अक्षय फलका देनेवाला है।

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्।

अथ=इसके बाद; **यदि**=यदि; **ते**=तुमको; **कर्मविचिकित्सा**=कर्तव्यके निर्णय करनेमें किसी प्रकारकी शङ्का हो; **वा**=या; **वृत्तविचिकित्सा**=सदाचारके विषयमें कोई शङ्का; **वा**=कदाचित्; **स्यात्**=हो जाय तो; **तत्र**=वहाँ; **ये**=जो; **सम्मर्शिनः**=उत्तम विचारवाले; **युक्ताः**=परामर्श देनेमें कुशल; **आयुक्ताः**=कर्म और सदाचारमें पूर्णतया लगे हुए; **अलूक्षाः**=स्निग्ध स्वभाववाले; (तथा) **धर्मकामाः**=एकमात्र धर्मके ही अभिलाषी; **ब्राह्मणाः**=ब्राह्मण; **स्युः**=हों; **ते**=वे; **यथा**=जिस प्रकार; **तत्र**=उस कर्म और आचरणके

क्षेत्रमें; **वर्तेरन्**=बर्ताव करते हों; **तत्र**=उस कर्म और आचरणके क्षेत्रमें; **तथा**=वैसे ही; **वर्तेथाः**=तुमको भी बर्ताव करना चाहिये; **अथ**=तथा यदि; **अभ्याख्यातेषु**=किसी दोषसे लाञ्छित मनुष्योंके साथ बर्ताव करनेमें (संदेह उत्पन्न हो जाय, तो भी); **ये**=जो; **तत्र**=वहाँ; **सम्मर्शिनः**=उत्तम विचारवाले; **युक्ताः**=परामर्श देनेमें कुशल; **आयुक्ताः**=सब प्रकारसे यथायोग्य सत्कर्म और सदाचारमें भलीभाँति लगे हुए; **अलूक्षाः**=रूखेपनसे रहित; **धर्मकामाः**=धर्मके अभिलाषी; **ब्राह्मणाः**=(विद्वान्) ब्राह्मण; **स्युः**=हों; **ते**=वे; **यथा**=जिस प्रकार; **तेषु**=उनके साथ; **वर्तेरन्**=बर्ताव करें; **तेषु**=उनके साथ; **तथा**=वैसा ही; **वर्तेथाः**=तुमको भी बर्ताव करना चाहिये; **एषः आदेशः**=यह शास्त्रकी आज्ञा है; **एषः उपदेशः**=यही (गुरुजनोंका अपने शिष्यों और पुत्रोंके लिये) उपदेश है; **एषा**=यही; **वेदोपनिषत्**=वेदोंका रहस्य है; **च**=और; **एतत्**=यही; **अनुशासनम्**=परम्परागत शिक्षा है; **एवम्**=इसी प्रकार; **उपासितव्यम्**=तुमको अनुष्ठान करना चाहिये; **एवम् उ**=इसी प्रकार; **एतत्**=यह; **उपास्यम्**=अनुष्ठान करना चाहिये।

व्याख्या—'यह सब करते हुए भी यदि तुमको किसी अवसरपर अपना कर्तव्य निश्चित करनेमें दुविधा उत्पन्न हो जाय, अपनी बुद्धिसे किसी एक निश्चयपर पहुँचना कठिन हो जाय—तुम किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाओ तो ऐसी स्थितिमें वहाँ जो कोई उत्तम विचार रखनेवाले, उचित परामर्श देनेमें कुशल, सत्कर्म और सदाचारमें तत्परतापूर्वक लगे हुए, सबके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करनेवाले तथा एकमात्र धर्मपालनकी ही इच्छा रखनेवाले विद्वान् ब्राह्मण (या अन्य कोई ऐसे ही महापुरुष) हों—वे जिस प्रकार ऐसे प्रसङ्गोंपर आचरण करते हों, उसी प्रकारका आचरण तुम्हें भी करना चाहिये। ऐसे स्थलोंमें उन्हींके सत्परामर्शके अनुसार उन्हींके स्थापित आदर्शका अनुगमन करना चाहिये। इसके अतिरिक्त जो मनुष्य किसी दोषके कारण लाञ्छित हो गया हो, उसके साथ किस समय कैसा व्यवहार करना चाहिये—इस विषयमें भी यदि तुमको दुविधा प्राप्त हो जाय—तुम अपनी बुद्धिसे निर्णय न कर सको तो वहाँ भी

जो विचारशील, परामर्श देनेमें कुशल, सत्कर्म और सदाचारमें पूर्णतया संलग्न तथा धर्मकामी (सांसारिक धनादिकी कामनासे रहित) निःस्वार्थी विद्वान् ब्राह्मण हों, वे लोग उसके साथ जैसा व्यवहार करें, वैसा ही तुमको भी करना चाहिये। उनका व्यवहार ही इस विषयमें प्रमाण है।'

'यही शास्त्रकी आज्ञा है—शास्त्रोंका निचोड़ है। यही गुरु एवं माता-पिताका अपने शिष्यों और संतानोंके प्रति उपदेश है तथा यही सम्पूर्ण वेदोंका रहस्य है। इतना ही नहीं, अनुशासन भी यही है। ईश्वरकी आज्ञा तथा परम्परागत उपदेशका नाम अनुशासन है। इसलिये तुमको इसी प्रकार कर्तव्य एवं सदाचारका पालन करना चाहिये। इसी प्रकार कर्तव्य एवं सदाचारका पालन करना चाहिये।'

॥ एकादश अनुवाक समाप्त ॥ ११ ॥



द्वादश अनुवाक

शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः* । नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

नः=हमारे लिये; **मित्रः**=(दिन और प्राणके अधिष्ठाता) मित्रदेवता; **शम् [भवतु]**=कल्याणप्रद हों; (तथा) **वरुणः**=(रात्रि और अपानके अधिष्ठाता) वरुण भी; **शम् [भवतु]**=कल्याणप्रद हों; **अर्यमा**=(चक्षु और सूर्यमण्डलके अधिष्ठाता) अर्यमा; **नः**=हमारे लिये; **शम् भवतु**=कल्याणमय हों; **इन्द्रः**=

---

* यह मन्त्र ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त ९० का नवाँ है तथा यजु॰ ३६। ९ है।

(बल और भुजाओंके अधिष्ठाता) इन्द्र; (तथा) **बृहस्पतिः**=(वाणी और बुद्धिके अधिष्ठाता) बृहस्पति; **नः**=हमारे लिये; **शम् [भवतु]**=शान्ति प्रदान करनेवाले हों; **उरुक्रमः**=त्रिविक्रमरूपसे विशाल डगोंवाले; **विष्णुः**=विष्णु (जो पैरोंके अधिष्ठाता हैं); **नः**=हमारे लिये; **शम् [भवतु]**=कल्याणमय हों; **ब्रह्मणे**=(उपर्युक्त सभी देवताओंके आत्मस्वरूप) ब्रह्माके लिये; **नमः**=नमस्कार है; **वायो**=हे वायुदेव !; **ते**=तुम्हारे लिये; **नमः**=नमस्कार है; **त्वम्**=तुम; **एव**=ही; **प्रत्यक्षम्**=प्रत्यक्ष (प्राणरूपसे प्रतीत होनेवाले); **ब्रह्म असि**=ब्रह्म हो (इसलिये मैंने); **त्वाम्**=तुझको; **एव**=ही; **प्रत्यक्षम्**=प्रत्यक्ष; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **अवादिषम्**=कहा है; **ऋतम्**=(तुम ऋतके अधिष्ठाता हो, इसलिये मैंने तुम्हें) ऋत नामसे; **अवादिषम्**=पुकारा है; **सत्यम्**=(तुम सत्यके अधिष्ठाता हो, अतः मैंने तुम्हें) सत्य नामसे; **अवादिषम्**=कहा है; **तत्**=उस (सर्व-शक्तिमान् परमेश्वरने); **माम् आवीत्**=मेरी रक्षा की है; **तत्**=उसने; **वक्तारम् आवीत्**=वक्ताकी—आचार्यकी रक्षा की है; **आवीत् माम्**=रक्षा की है मेरी; (और) **आवीत् वक्तारम्**=रक्षा की है मेरे आचार्यकी; **ॐ शान्तिः**= भगवान् शान्तिस्वरूप हैं; **शान्तिः**=शान्तिस्वरूप हैं; **शान्तिः**=शान्तिस्वरूप हैं।

व्याख्या—शीक्षावल्लीके इस अन्तिम अनुवाकमें भिन्न-भिन्न शक्तियोंके अधिष्ठाता परब्रह्म परमेश्वरसे भिन्न-भिन्न नाम और रूपोंमें उनकी स्तुति करते हुए प्रार्थनापूर्वक कृतज्ञता प्रकट की गयी है। भाव यह है कि समस्त आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक शक्तियोंके रूपमें तथा उनके अधिष्ठाता मित्र, वरुण आदि देवताओंके रूपमें जो सबके आत्मा अन्तर्यामी परमेश्वर हैं, वे सब प्रकारसे हमारे लिये कल्याणमय हों—हमारी उन्नतिके मार्गमें किसी प्रकारका विघ्न न आने दें। हम सबके अन्तर्यामी ब्रह्मको नमस्कार करते हैं।

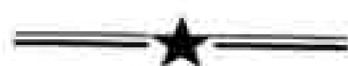
इस प्रकार परमात्मासे शान्तिकी प्रार्थना करके सूत्रात्मा प्राणके रूपमें समस्त प्राणियोंमें व्याप्त परमेश्वरकी वायुके नामसे स्तुति करते हैं—'हे सर्वशक्तिमान्, सबके प्राणस्वरूप वायुमय परमेश्वर ! आपको नमस्कार है।

आप ही समस्त प्राणियोंके प्राणस्वरूप प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं; अतः मैंने आपको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहकर पुकारा है। मैंने ऋत नामसे भी आपको ही पुकारा है; क्योंकि सारे प्राणियोंके लिये जो कल्याणकारी नियम है, उस नियमरूप ऋतके आप ही अधिष्ठाता हैं। यही नहीं, मैंने 'सत्य' नामसे भी आपको ही पुकारा है; क्योंकि सत्य—यथार्थ भाषणके अधिष्ठातृ-देवता भी आप ही हैं। उन सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमेश्वरने मुझे सत्-आचरण एवं सत्य-भाषण करनेकी और सत्-विद्याको ग्रहण करनेकी शक्ति प्रदान करके इस जन्म-मरणरूप संसारचक्रसे मेरी रक्षा की है तथा मेरे आचार्यको उन सबका उपदेश देकर सर्वत्र उस सत्यका प्रचार करनेकी शक्ति प्रदान करके उनकी रक्षा—उनका भी सब प्रकारसे कल्याण किया है। यहाँ 'मेरी रक्षा की है, मेरे वक्ताकी रक्षा की है' इन वाक्योंको दुहरानेका अभिप्राय शीक्षावल्लीकी समाप्तिकी सूचना देना है।'

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः—इस प्रकार तीन बार '**शान्तिः**' पदका उच्चारण करनेका भाव यह है कि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—तीनों प्रकारके विघ्नोंका सर्वथा उपशमन हो जाय। भगवान् शान्तिस्वरूप हैं। अतः उनके स्मरणसे सब प्रकारकी शान्ति निश्चित है।

॥ द्वादश अनुवाक समाप्त ॥ १२ ॥

॥ प्रथम वल्ली समाप्त ॥ १ ॥



ॐ

ब्रह्मानन्दवल्ली

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

ॐ=पूर्णब्रह्म परमात्मन्!; (आप) **नौ**=हम दोनों (गुरु-शिष्य) की; **सह**=साथ-साथ; **अवतु**=रक्षा करें; **नौ**=हम दोनोंका; **सह**=साथ-साथ; **भुनक्तु**=पालन करें; **सह**=(हम दोनों) साथ-साथ ही; **वीर्यम्**=शक्ति; **करवावहै**=प्राप्त करें; **नौ**=हम दोनोंकी; **अधीतम्**=पढ़ी हुई विद्या; **तेजस्वि**=तेजोमयी; **अस्तु**=हो; **मा विद्विषावहै**=हम दोनों परस्पर द्वेष न करें।

व्याख्या—हे परमात्मन्! आप हम गुरु-शिष्य दोनोंकी साथ-साथ सब प्रकारसे रक्षा करें, हम दोनोंका आप साथ-साथ समुचितरूपसे पालन-पोषण करें, हम दोनों साथ-ही-साथ सब प्रकारसे बल प्राप्त करें, हम दोनोंकी अध्ययन की हुई विद्या तेजपूर्ण हो— कहीं किसीसे हम विद्यामें परास्त न हों और हम दोनों जीवनभर परस्पर स्नेह-सूत्रसे बँधे रहें; हमारे अंदर परस्पर कभी द्वेष न हो। हे परमात्मन्! तीनों तापोंकी निवृत्ति हो।

प्रथम अनुवाक

ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता।

ब्रह्मवित्=ब्रह्मज्ञानी; **परम्**=परब्रह्मको; **आप्नोति**=प्राप्त कर लेता है; **तत्**=उसी भावको व्यक्त करनेवाली; **एषा**=यह (श्रुति); **अभ्युक्ता**=कही गयी है।

व्याख्या—ब्रह्मज्ञानी महात्मा परब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, इसी बातको बतानेके लिये आगे आनेवाली श्रुति कही गयी है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।

ब्रह्म=ब्रह्म; **सत्यम्**=सत्य; **ज्ञानम्**=ज्ञानस्वरूप; (और) **अनन्तम्**=अनन्त है; **यः**=जो मनुष्य; **परमे व्योमन्**=परम विशुद्ध आकाशमें (रहते हुए भी); **गुहायाम्**=प्राणियोंके हृदयरूप गुफामें; **निहितम्**=छिपे हुए (उस ब्रह्मको); **वेद**=जानता है; **सः**=वह; **विपश्चिता**=(उस) विज्ञानस्वरूप; **ब्रह्मणा सह**=ब्रह्मके साथ; **सर्वान्**=समस्त; **कामान् अश्नुते**=भोगोंका अनुभव करता है; **इति**=इस प्रकार (यह ऋचा है)।

व्याख्या—इस मन्त्रमें परब्रह्म परमात्माके स्वरूपबोधक लक्षण बताकर उनकी प्राप्तिके स्थानका वर्णन करते हुए उनकी प्राप्तिका फल बताया गया है। भाव यह है कि वे परब्रह्म परमात्मा सत्यस्वरूप हैं। 'सत्य' शब्द यहाँ नित्य सत्ताका बोधक है। अर्थात् वे परब्रह्म नित्य सत् हैं; किसी भी कालमें उनका अभाव नहीं होता तथा वे ज्ञानस्वरूप हैं, उनमें अज्ञानका लेश भी नहीं है और वे अनन्त हैं अर्थात् देश और कालकी सीमासे अतीत—सीमारहित हैं। वे ब्रह्म परम विशुद्ध आकाशमें रहते हुए भी सबके हृदयकी गुफामें छिपे हुए हैं। उन परब्रह्म परमात्माको जो साधक तत्त्वसे जान लेता है, वह सबको भलीभाँति जाननेवाले उन ब्रह्मके साथ रहता हुआ सब प्रकारके भोगोंको अलौकिक ढंगसे अनुभव करता है।*

---

* इस कथनके रहस्यको समझ लेनेपर ईशावास्योपनिषद्के प्रथम मन्त्रमें साधकके लिये दिये हुए उपदेशका भी स्पष्ट हो जाता है। वहाँ कहा है कि इस ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनरूप जगत् है, वह ईश्वरसे परिपूर्ण है, उस ईश्वरको अपने साथ रखते हुए अर्थात् निरन्तर याद रखते हुए ही त्यागपूर्वक आवश्यक विषयोंका सेवन करना चाहिये। जो उपदेश वहाँ साधकके लिये दिया गया है, वही बात यहाँ सिद्ध महात्माकी स्थिति बतानेके लिये कही गयी है। 'वह ब्रह्मके साथ सब भोगोंका अनुभव करता है' इस कथनका अभिप्राय यही है कि वह परमात्माको प्राप्त सिद्ध पुरुष इन्द्रियोंद्वारा बाह्य विषयोंका सेवन करते हुए भी स्वयं सदा परमात्मामें ही स्थित रहता है। उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके व्यवहार, उनके द्वारा होनेवाली सभी चेष्टाएँ परमात्मामें स्थित रहते हुए ही होती हैं। लोगोंके देखनेमें आवश्यकतानुसार यथायोग्य विषयोंका इन्द्रियोंद्वारा उपभोग

****

सम्बन्ध—वे परब्रह्म परमात्मा किस प्रकार कैसी गुफामें छिपे हुए हैं, उन्हें कैसे जानना चाहिये—इस जिज्ञासापर आगेका प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

वै=निश्चय ही; **तस्मात्**=(सर्वत्र प्रसिद्ध) उस; **एतस्मात्**=इस; **आत्मनः**=परमात्मासे; (पहले-पहल) **आकाशः**=आकाशतत्त्व; **सम्भूतः**=उत्पन्न हुआ; **आकाशात्**=आकाशसे; **वायुः**=वायु; **वायोः**=वायुसे; **अग्निः**=अग्नि; **अग्नेः**=अग्निसे; **आपः**=जल; (और) **अद्भ्यः**=जलतत्त्वसे; **पृथिवी**=पृथ्वीतत्त्व उत्पन्न हुआ; **पृथिव्याः**=पृथ्वीसे; **ओषधयः**=समस्त ओषधियाँ उत्पन्न हुईं; **ओषधीभ्यः**=ओषधियोंसे; **अन्नम्**=अन्न उत्पन्न हुआ; **अन्नात्**=अन्नसे ही; **पुरुषः**=(यह) मनुष्य-शरीर उत्पन्न हुआ; **सः**=वह; **एषः**=यह; **पुरुषः**=मनुष्य-शरीर; **वै**=निश्चय ही; **अन्नरसमयः**=अन्नरसमय है; **तस्य**=उसका; **इदम्**=यह (प्रत्यक्ष दीखनेवाला सिर); **एव**=ही; **शिरः**=(पक्षीकी कल्पनामें) सिर है; **अयम्**=यह (दाहिनी भुजा) ही; **दक्षिणः पक्षः**=दाहिना पंख है; **अयम्**=यह (बायीं भुजा) ही; **उत्तरः पक्षः**=बायाँ पंख है; **अयम्**=यह (शरीरका मध्यभाग) ही; **आत्मा**=पक्षीके अङ्गोंका मध्य भाग है;* **इदम्**=यह (दोनों पैर ही); **पुच्छम् प्रतिष्ठा**=पूँछ एवं प्रतिष्ठा है; **तत् अपि**=उसीके विषयमें; **एषः**=यह (आगे कहा

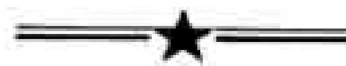
करते समय भी वह परमात्मासे कभी एक क्षणके लिये भी अलग नहीं होता (गीता ६। ३१)। अतः सदा सभी कर्मोंसे निर्लेप रहता है। यही भाव दिखानेके लिये 'विपश्चिता ब्रह्मणा सह सर्वान् कामान् अश्नुते' कहा गया है। इस प्रकार यह श्रुति परब्रह्मके स्वरूप तथा उसके ज्ञानकी महिमाको बतानेवाली है।

* 'मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा' इस श्रुतिके अनुसार शरीरका मध्यभाग सब अङ्गोंका आत्मा है।

जानेवाला); **श्लोकः**=श्लोक; **भवति**=है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें मनुष्यके हृदयरूप गुफाका वर्णन करनेके उद्देश्यसे पहले मनुष्य-शरीरकी उत्पत्तिका प्रकार संक्षेपमें बताकर उसके अङ्गोंकी पक्षीके अङ्गोंके रूपमें कल्पना की गयी है। भाव यह है कि सबके आत्मा अन्तर्यामी परमात्मासे पहले आकाशतत्त्व उत्पन्न हुआ। आकाशसे वायुतत्त्व, वायुसे अग्नितत्त्व, अग्निसे जलतत्त्व और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई। पृथ्वीसे नाना प्रकारकी ओषधियाँ—अनाजके पौधे हुए और ओषधियोंसे मनुष्योंका आहार अन्न उत्पन्न हुआ। उस अन्नसे यह स्थूल मनुष्य-शरीररूप पुरुष उत्पन्न हुआ। अन्नके रससे बना हुआ यह जो मनुष्य-शरीरधारी पुरुष है, इसकी पक्षीके रूपमें कल्पना की गयी है। इसका जो यह प्रत्यक्ष सिर है, वही तो मानो पक्षीका सिर है; दाहिनी भुजा ही दाहिना पंख है। बायीं भुजा ही बाँया पंख है। शरीरका मध्यभाग ही मानो उस पक्षीके शरीरका मध्यभाग है। दोनों पैर ही पूँछ एवं प्रतिष्ठा (पक्षीके पैर) हैं। अन्नकी महिमाके विषयमें यह आगे कहा जानेवाला श्लोक—मन्त्र है।

॥ प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥



द्वितीय अनुवाक

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवी्ँ श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्न्ँ हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते। अन्न्ँ हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद्भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यत इति।

पृथिवीम् श्रिताः=पृथ्वीलोकका आश्रय लेकर रहनेवाले; **याः काः च**=जो कोई भी; **प्रजाः**=प्राणी हैं (वे सब); **अन्नात्**=अन्नसे; **वै**=ही;

प्रजायन्ते=उत्पन्न होते हैं; **अथो**=फिर; **अन्नेन एव**=अन्नसे ही; **जीवन्ति**=जीते हैं; **अथ**=फिर; **अन्ततः**=अन्तमें; **एनत् अपि**=इस अन्नमें ही; **यन्ति**=विलीन हो जाते हैं; **अन्नम्**=(अतः) अन्न; **हि**=ही; **भूतानाम्**=सब भूतोंमें; **ज्येष्ठम्**=श्रेष्ठ है; **तस्मात्**=इसलिये (यह); **सर्वौषधम्**=सर्वौषधरूप; **उच्यते**=कहलाता है; **ये**=जो साधक; **अन्नम् ब्रह्म**=अन्नकी ब्रह्मभावसे; **उपासते**=उपासना करते हैं; **ते वै**=वे अवश्य ही; **सर्वम्**=समस्त; **अन्नम्**=अन्नको; **आप्नुवन्ति**=प्राप्त कर लेते हैं; **हि**=क्योंकि; **अन्नम्**=अन्न ही; **भूतानाम्**=भूतोंमें; **ज्येष्ठम्**=श्रेष्ठ है; **तस्मात्**=इसलिये; **सर्वौषधम्**=(यह) सर्वौषध नामसे; **उच्यते**=कहा जाता है; **अन्नात्**=अन्नसे ही; **भूतानि**=सब प्राणी; **जायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **जातानि**=उत्पन्न होकर; **अन्नेन**=अन्नसे ही; **वर्धन्ते**=बढ़ते हैं; **तत्**=वह; **अद्यते**=(प्राणियोंद्वारा) खाया जाता है; **च**=तथा; **भूतानि**=(स्वयं भी) प्राणियोंको; **अत्ति**=खाता है; **तस्मात्**=इसलिये; **अन्नम्**='अन्न'; **इति**=इस नामसे; **उच्यते**=कहा जाता है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें अन्नकी महिमाका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि इस पृथ्वीलोकमें निवास करनेवाले जितने भी प्राणी हैं, वे सब अन्नसे ही उत्पन्न हुए हैं—अन्नके परिणामरूप रज और वीर्यसे ही उनके शरीर बने हैं, उत्पन्न होनेके बाद अन्नसे ही उनका पालन-पोषण होता है, अतः अन्नसे ही वे जीते हैं। फिर अन्तमें इस अन्नमें ही—अन्न उत्पन्न करनेवाली पृथ्वीमें ही विलीन हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि समस्त प्राणियोंके जन्म, जीवन और मरण स्थूलशरीरके सम्बन्धसे ही होते हैं; और स्थूलशरीर अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं, अन्नसे ही जीते हैं तथा अन्नके उद्गमस्थान पृथ्वीमें ही विलीन हो जाते हैं। उन शरीरोंमें रहनेवाले जो जीवात्मा हैं, वे अन्नमें विलीन नहीं होते; वे तो मृत्युकालमें प्राणोंके साथ इस शरीरसे निकलकर दूसरे शरीरोंमें चले जाते हैं।

इस प्रकार यह अन्न समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति आदिका कारण है, इसीपर सब कुछ निर्भर करता है; इसलिये यही सबसे श्रेष्ठ है और इसीलिये यह सर्वौषधरूप कहलाता है; क्योंकि इसीसे प्राणियोंका क्षुधाजन्य संताप दूर होता है। सारे संतापोंका मूल क्षुधा है, इसलिये उसके शान्त होनेपर सारे संताप दूर

****

हो जाते हैं। जो साधक इस अन्नकी ब्रह्मरूपमें उपासना करते हैं अर्थात् 'यह अन्न ही सर्वश्रेष्ठ है, सबसे बड़ा है' यह समझकर इसकी उपासना करते हैं, वे समस्त अन्नको प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें यथेष्ट अन्न प्राप्त हो जाता है, अन्नका अभाव नहीं रहता। यह सर्वथा सत्य है कि यह अन्न ही सब भूतोंमें श्रेष्ठ है, इसलिये यह सर्वौषधमय कहलाता है। सब प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होनेके बाद अन्नसे ही बढ़ते हैं—उनके अङ्गोंकी पुष्टि भी अन्नसे ही होती है। सब प्राणी इसको खाते हैं तथा यह भी सब प्राणियोंको खा जाता—अपनेमें विलीन कर लेता है, इसीलिये '**अद्यते, अत्ति च इति अन्नम्**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार इसका नाम अन्न है।

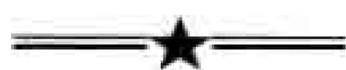
तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

वै=निश्चय ही; **तस्मात्**=उस; **एतस्मात्**=इस; **अन्नरसमयात्**=अन्नरसमय मनुष्यशरीरसे; **अन्यः**=भिन्न; **अन्तरः**=उसके भीतर रहनेवाला; **प्राणमयः आत्मा**=प्राणमय पुरुष है; **तेन**=उससे; **एषः**=यह (अन्नरसमय पुरुष); **पूर्णः**=व्याप्त है; **सः**=वह; **एषः**=यह प्राणमय आत्मा; **वै**=निश्चय ही; **पुरुषविधः एव**=पुरुषके आकारका ही है; **तस्य**=उस (अन्नरसमय) आत्माकी; **पुरुषविधताम्**=पुरुषतुल्य आकृतिमें; **अनु**=अनुगत (व्याप्त) होनेसे ही; **अयम्**=यह; **पुरुषविधः**=पुरुषके आकारका है; **तस्य**=उस (प्राणमय आत्मा) का; **प्राणः**=प्राण; **एव**=ही; **शिरः**=(मानो) सिर है; **व्यानः**=व्यान; **दक्षिणः**=दाहिना; **पक्षः**=पंख है; **अपानः**=अपान; **उत्तरः**=बायाँ; **पक्षः**=पंख है; **आकाशः**=आकाश; **आत्मा**=शरीरका मध्यभाग है; (और) **पृथिवी**=पृथ्वी; **पुच्छम्**=पूँछ; (एवम्) **प्रतिष्ठा**=आधार है; **तत्**=उस प्राण (की महिमा) के विषयमें; **अपि**=भी; **एषः**=यह आगे बताया जानेवाला; **श्लोकः भवति**=श्लोक है।

व्याख्या—द्वितीय अनुवाकके इस दूसरे अंशमें प्राणमय शरीरका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि पूर्वोक्त अन्नके रससे बने हुए स्थूलशरीरसे भिन्न उस स्थूलशरीरके भीतर रहनेवाला एक और शरीर है, उसका नाम 'प्राणमय' है; उस प्राणमयसे यह अन्नमय शरीर पूर्ण है। अन्नमय स्थूल शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म होनेके कारण प्राणमय शरीर इसके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें व्याप्त है। वह यह प्राणमय शरीर भी पुरुषके आकारका ही है। अन्नमय शरीरकी पुरुषाकारता प्रसिद्ध है, उसमें अनुगत होनेसे ही यह प्राणमय शरीर भी पुरुषाकार कहा जाता है। उसकी पक्षीके रूपमें कल्पना इस प्रकार है—प्राण ही मानो उसका सिर है; क्योंकि शरीरके अङ्गोंमें जैसे मस्तक श्रेष्ठ है; उसी प्रकार पाँचों प्राणोंमें मुख्य प्राण ही सर्वश्रेष्ठ है। व्यान दाहिना पंख है। अपान बायाँ पंख है। आकाश अर्थात् आकाशमें फैले हुए वायुकी भाँति सर्वशरीरव्यापी 'समान-वायु' आत्मा है; क्योंकि वही समस्त शरीरमें समानभावसे रस पहुँचाकर समस्त प्राणमय शरीरको पुष्ट करता है। इसका स्थान शरीरका मध्यभाग है तथा इसीका बाह्य आकाशसे सम्बन्ध है, यह बात प्रश्नोपनिषद्के तीसरे प्रश्नोत्तरके पाँचवें और आठवें मन्त्रोंमें कही गयी है तथा पृथ्वी पूँछ एवं आधार है; अर्थात् अपानवायुको रोककर रखनेवाली पृथ्वीकी आधिदैविक शक्ति ही इस प्राणमय पुरुषका आधार है। इसका वर्णन भी प्रश्नोपनिषद्के तीसरे प्रश्नोत्तरके आठवें मन्त्रमें ही आया है।

इस प्राणकी महिमाके विषयमें आगे कहा हुआ श्लोक—मन्त्र है।

॥ द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥



तृतीय अनुवाक

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति।

तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य।

ये=जो-जो; **देवाः**=देवता; **मनुष्याः**=मनुष्य; **च**=और; **पशवः**=पशु आदि प्राणी हैं; **[ते]**=वे; **प्राणम् अनु**=प्राणका अनुसरण करके ही; **प्राणन्ति**= चेष्टा करते अर्थात् जीवित रहते हैं; **हि**=क्योंकि; **प्राणः**=प्राण ही; **भूतानाम्**= प्राणियोंकी; **आयुः**=आयु है; **तस्मात्**=इसलिये; (यह प्राण) **सर्वायुषम्**= सबका आयु; **उच्यते**=कहलाता है; **प्राणः**=प्राण; **हि**=ही; **भूतानाम्**= प्राणियोंकी; **आयुः**=आयु—जीवन है; **तस्मात्**=इसलिये; (वह) **सर्वायुषम्**= सबका आयु; **उच्यते**=कहलाता है; **इति**=यह समझकर; **ये**=जो कोई; **प्राणम्**= प्राणस्वरूप; **ब्रह्म**=ब्रह्मकी; **उपासते**=उपासना करते हैं; **ते**=वे; **सर्वम् एव**= निस्संदेह समस्त; **आयुः**=आयुको; **यन्ति**=प्राप्त कर लेते हैं; **तस्य**=उसका; **एषः एव**=यही; **शारीरः**=शरीरमें रहनेवाला; **आत्मा**=अन्तरात्मा है; **यः**=जो; **पूर्वस्य**=पहलेवालेका अर्थात् अन्नरसमय शरीरका अन्तरात्मा है।

व्याख्या—तृतीय अनुवाकके इस पहले अंशमें प्राणकी महिमाका वर्णन करनेवाली श्रुतिका उल्लेख करके फिर इस प्राणमय शरीरके अन्तर्यामी परमेश्वरको लक्ष्य कराया गया है। भाव यह है कि जितने भी देवता, मनुष्य, पशु आदि शरीरधारी प्राणी हैं, वे सब प्राणके सहारे ही जी रहे हैं। प्राणके बिना किसीका भी शरीर नहीं रह सकता; क्योंकि प्राण ही सब प्राणियोंकी आयु—जीवन है, इसीलिये यह प्राण 'सर्वायुष' कहलाता है। जो साधक यह प्राणियोंकी आयु है, इसलिये यह सबका आयु—जीवन कहलाता है; यों समझकर इस प्राणकी ब्रह्मरूपसे उपासना करते हैं, वे पूर्ण आयुको प्राप्त कर लेते हैं। प्रश्नोपनिषद्में भी कहा है कि जो मनुष्य इस प्राणके तत्त्वको जान लेता है, वह स्वयं अमर हो जाता है और उसकी प्रजा नष्ट नहीं होती है (३।११)। जो सर्वात्मा परमेश्वर अन्नके रससे बने हुए स्थूलशरीरधारी पुरुषका अन्तरात्मा है, वही उस प्राणमय पुरुषका भी शरीरान्तर्वर्ती अन्तर्यामी आत्मा है।

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं

पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

वै=यह निश्चय है कि; **तस्मात्**=उस; **एतस्मात्**=इस; **प्राणमयात्**= प्राणमय पुरुषसे; **अन्यः**=भिन्न; **अन्तरः**=उसके भीतर रहनेवाला; **मनोमयः**= मनोमय; **आत्मा**=आत्मा (पुरुष) है; **तेन**=उस मनोमय शरीरसे; **एषः**=यह प्राणमय शरीर; **पूर्णः**=व्याप्त है; **सः**=वह; **एषः**=यह मनोमय शरीर; **वै**= निश्चय ही; **पुरुषविधः**=पुरुषके आकारका; **एव**=ही है; **तस्य**=उसकी; **पुरुषविधताम् अनु**=पुरुषतुल्य आकृतिमें अनुगत (व्याप्त) होनेसे ही; **अयम्**=यह मनोमय शरीर; **पुरुषविधः**=पुरुषके आकारका है; **तस्य**=उस (मनोमय पुरुष) का; **यजुः**=यजुर्वेद; **एव**=ही; **शिरः**=(मानो) सिर है; **ऋक्**=ऋग्वेद; **दक्षिणः**=दाहिना; **पक्षः**=पंख है; **साम**=सामवेद; **उत्तरः**=बायाँ; **पक्षः**=पंख है; **आदेशः**=आदेश (विधिवाक्य); **आत्मा**=शरीरका मध्यभाग है; **अथर्वाङ्गिरसः**=अथर्वा और अङ्गिरा ऋषिद्वारा देखे गये अथर्ववेदके मन्त्र ही; **पुच्छम्**=पूँछ; (एवं) **प्रतिष्ठा**=आधार हैं; **तत्**=उसकी महिमाके विषयमें; **अपि**=भी; **एषः**=यह आगे कहा जानेवाला; **श्लोकः भवति**=श्लोक है।

व्याख्या—इस तृतीय अनुवाकके दूसरे अंशमें मनोमय पुरुषका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि पहले बताये हुए प्राणमय पुरुषसे भिन्न, उससे भी सूक्ष्म होनेके कारण उसके भीतर रहनेवाला दूसरा पुरुष है; उसका नाम है मनोमय। उस मनोमयसे यह प्राणमय शरीर पूर्ण है अर्थात् वह इस प्राणमय शरीरमें सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। वह यह मनोमय शरीर भी पुरुषके ही आकारका है। प्राणमय पुरुषमें अनुगत होनेसे ही यह मनोमय शरीर पुरुषके समान आकारवाला है। उसकी पक्षीके रूपमें इस प्रकार कल्पना की गयी है—उस मनोमय पुरुषका मानो यजुर्वेद ही सिर है, ऋग्वेद दाहिना पंख है, सामवेद बायाँ पंख है, आदेश (विधिवाक्य) मानो शरीरका मध्यभाग है तथा अथर्वा और अङ्गिरा ऋषियोंद्वारा देखे हुए अथर्ववेदके मन्त्र ही पूँछ और आधार हैं।

यज्ञ आदि कर्मोंमें यजुर्वेदके मन्त्रोंकी ही प्रधानता है। इसके सिवा जिनके अक्षरोंकी कोई नियत संख्या न हो तथा जिनकी पाद-पूर्तिका कोई नियत नियम न हो, ऐसे मन्त्रोंको '**यजुः**' छन्दके अन्तर्गत समझा जाता है। इस नियमके अनुसार जिस किसी वैदिक वाक्य या मन्त्रके अन्तमें '**स्वाहा**' पद जोड़कर अग्निमें आहुति दी जाती है, वह वाक्य या मन्त्र भी '**यजुः**' ही कहलायेगा। इस प्रकार यजुर्मन्त्रोंके द्वारा ही अग्निको हविष्य अर्पित किया जाता है, इसलिये वहाँ यजुः प्रधान है। अङ्गोंमें भी सिर प्रधान है, अतः यजुर्वेदको सिर बतलाना उचित ही है। वेद-मन्त्रोंके वर्ण, पद और वाक्य आदिके उच्चारणके लिये पहले मनमें ही संकल्प उठता है; अतः संकल्पात्मक वृत्तिके द्वारा मनोमय पुरुषके साथ वेद-मन्त्रोंका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिये इन्हें मनोमय पुरुषके ही अङ्गोंमें स्थान दिया गया है। शरीरमें जो स्थान दोनों भुजाओंका है, वही स्थान मनोमय पुरुषके अङ्गोंमें ऋग्वेद और सामवेदका है। यज्ञ-यागादिमें इनके मन्त्रोंद्वारा स्तवन और गायन होता है, अतः यजुर्मन्त्रोंकी अपेक्षा ये अप्रधान हैं; फिर भी भुजाओंकी भाँति यज्ञमें विशेष सहायक हैं, अतएव इनको भुजाओंका रूप दिया गया है। आदेश (विधि) वाक्य वेदोंके भीतर हैं, अतः उन्हें ही मनोमय पुरुषके अङ्गोंका मध्यभाग बताया गया है। अथर्ववेदमें शान्तिक-पौष्टिक आदि कर्मोंके साधक मन्त्र हैं, जो प्रतिष्ठाके हेतु हैं; अतः उनको पुच्छ एवं प्रतिष्ठा कहना सर्वथा युक्तिसंगत ही है। संकल्पात्मक वृत्तिके द्वारा मनोमय पुरुषका इन सबके साथ नित्य सम्बन्ध है, इसीलिये वेदमन्त्रोंको उसका अङ्ग बताया गया है—यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये।

इस मनोमय पुरुषकी महिमाके विषयमें भी यह आगे चतुर्थ अनुवाकमें कहा जानेवाला श्लोक अर्थात् मन्त्र है।

॥ तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥



चतुर्थ अनुवाक

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य।

यतः=जहाँसे; **मनसा सह**=मनके सहित; **वाचः**=वाणी आदि इन्द्रियाँ; **अप्राप्य**=उसे न पाकर; **निवर्तन्ते**=लौट आती हैं; **[तस्य] ब्रह्मणः**=उस ब्रह्मके; **आनन्दम्**=आनन्दको; **विद्वान्**=जाननेवाला पुरुष; **कदाचन**=कभी; **न बिभेति**=भय नहीं करता; **इति**=इस प्रकार यह श्लोक है; **तस्य**=उस मनोमय पुरुषका भी; **एषः एव**=यही परमात्मा; **शारीरः**=शरीरान्तर्वर्ती; **आत्मा**=आत्मा है; **यः**=जो; **पूर्वस्य**=पहले बताये हुए अन्नरसमय शरीर या प्राणमय शरीरका है।।

व्याख्या—इस मन्त्रमें ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाले विद्वान्‌की महिमाके साथ अर्थान्तरसे उसके मनोमय शरीरकी महिमा प्रकट की गयी है। भाव यह है कि परब्रह्म परमात्माका जो स्वरूपभूत परम आनन्द है, वहाँतक मन, वाणी आदि समस्त इन्द्रियोंके समुदायरूप मनोमय शरीरकी भी पहुँच नहीं है; परंतु ब्रह्मको पानेके लिये साधन करनेवाले मनुष्यको यह ब्रह्मके पास पहुँचानेमें विशेष सहायक है। ये मन-वाणी आदि साधनपरायण पुरुषको उन परब्रह्मके द्वारतक पहुँचाकर, उसे वहीं छोड़कर स्वयं लौट आते हैं और वह साधक उनको प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मके आनन्दमय स्वरूपको जान लेनेवाला विद्वान् कभी भयभीत नहीं होता। इस प्रकार यह मन्त्र है।

मनोमय शरीरके भी अन्तर्यामी आत्मा वे ही परमात्मा हैं, जो पूर्वोक्त अन्नरसमय शरीर और प्राणमय शरीरके अन्तर्यामी हैं।

तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयस्तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

वै=निश्चय ही; **तस्मात्**=उस पहले बताये हुए; **एतस्मात्**=इस; **मनोमयात्**=मनोमय पुरुषसे; **अन्यः**=अन्य; **अन्तरः**=इसके भीतर रहनेवाला;

आत्मा=आत्मा; **विज्ञानमयः**=विज्ञानमय है; **तेन**=उस विज्ञानमय आत्मासे; **एषः**=यह मनोमय शरीर; **पूर्णः**=व्याप्त है; **सः**=वह; **एषः**=यह विज्ञानमय आत्मा; **वै**=निस्संदेह; **पुरुषविधः एव**=पुरुषके आकारका ही है; **तस्य**=उसकी; **पुरुषविधताम् अनु**=पुरुषाकृतिमें अनुगत होनेसे ही; **अयम्**=यह विज्ञानमय आत्मा; **पुरुषविधः**=पुरुषके आकारका बताया जाता है; **तस्य**=उस विज्ञानमय आत्माका; **श्रद्धा**=श्रद्धा; **एव**=ही; **शिरः**=(मानो) सिर है; **ऋतम्**=सदाचारका निश्चय; **दक्षिणः**=दाहिना; **पक्षः**=पंख है; **सत्यम्**=सत्यभाषणका निश्चय; **उत्तरः**=बायाँ; **पक्षः**=पंख है; **योगः**=(ध्यानद्वारा परमात्मामें एकाग्रतारूप) योग ही; **आत्मा**=शरीरका मध्यभाग है; **महः**='महः' नामसे प्रसिद्ध परमात्मा ही; **पुच्छम्**=पुच्छ; (एवं) **प्रतिष्ठा**=आधार है; **तत्**=उस विषयमें; **अपि**=भी; **एषः**=यह आगे कहा जानेवाला; **श्लोकः**=श्लोक; **भवति**=है।

व्याख्या—चतुर्थ अनुवाकके इस दूसरे अंशमें विज्ञानमय पुरुषका अर्थात् विज्ञानमय शरीरके अधिष्ठाता जीवात्माका वर्णन है। भाव यह है कि पहले बताये हुए मनोमय शरीरसे भी सूक्ष्म होनेके कारण उसके भीतर रहनेवाला जो आत्मा है, वह अन्य है। वह है विज्ञानमय पुरुष अर्थात् बुद्धिरूप गुफामें निवास करनेवाला और उसमें तदाकार-सा बना हुआ जीवात्मा। उससे यह मनोमय शरीर पूर्ण है। अर्थात् वह इस मनोमय शरीरमें सर्वत्र व्याप्त है और मनोमय अपनेसे पहलेवाले प्राणमय और अन्नमयमें व्याप्त है। अतः यह विज्ञानमय जीवात्मा समस्त शरीरमें व्याप्त है। गीतामें भी यही कहा है कि जीवात्मारूप क्षेत्रज्ञ शरीररूप क्षेत्रमें सर्वत्र स्थित है (गीता १३। ३२)। वह विज्ञानमय आत्मा भी निश्चय ही पुरुषके आकारका है। उस मनोमय पुरुषमें व्याप्त होनेसे ही वह पुरुषाकार कहा जाता है। उस विज्ञानमयके अङ्गोंकी पक्षीके रूपमें इस प्रकार कल्पना की गयी है। श्रद्धा कहते हैं बुद्धिकी निश्चित विश्वासरूप वृत्तिको; वही उस विज्ञानात्माके शरीरमें प्रधान अङ्गरूप सिर है; क्योंकि यह दृढ़ विश्वास ही प्रत्येक विषयमें उन्नतिका कारण है। परमात्माकी प्राप्तिमें तो सबसे पहले और सबसे अधिक इसीकी

आवश्यकता है। सदाचरणका निश्चय ही इसका दाहिना पंख है, सत्य-भाषणका निश्चय ही इसका बायाँ पंख है। ध्यानद्वारा परमात्माके साथ संयुक्त रहना ही विज्ञानमय शरीरका मध्यभाग है और 'महः' नामसे प्रसिद्ध* परमात्मा पुच्छ और आधार है; क्योंकि परमात्मा ही जीवात्माका परम आश्रय है।

इस विज्ञानात्माकी महिमाके विषयमें भी यह आगे पञ्चम अनुवाकमें कहा जानेवाला श्लोक अर्थात् मन्त्र है।

॥ चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥



पञ्चम अनुवाक

विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान्कामान्समश्नुत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य।

विज्ञानम्=विज्ञान ही; **यज्ञम् तनुते**=यज्ञोंका विस्तार करता है; **च**=और; **कर्माणि अपि तनुते**=कर्मोंका भी विस्तार करता है; **सर्वे**=सब; **देवाः**=इन्द्रियरूप देवता; **ज्येष्ठम्**=सर्वश्रेष्ठ; **ब्रह्म**=ब्रह्मके रूपमें; **विज्ञानम् उपासते**=विज्ञानकी ही सेवा करते हैं; **चेत्**=यदि; (कोई) **विज्ञानम्**=विज्ञानको; **ब्रह्म**=ब्रह्मरूपसे; **वेद**=जानता है; (और) **चेत्**=यदि; **तस्मात्**=उससे; **न प्रमाद्यति**=प्रमाद नहीं करता, उस निश्चयसे कभी विचलित नहीं होता (तो); **पाप्मनः**=(शरीराभिमानजनित) पापसमुदायको; **शरीरे**=शरीरमें ही; **हित्वा**=छोड़कर; **सर्वान् कामान्**=समस्त भोगोंका; **समश्नुते**=अनुभव करता है; **इति**=इस प्रकार यह श्लोक है; **तस्य**=उस विज्ञानमयका; **एषः**=यह परमात्मा; **एव**=ही;

* शीक्षावल्ली पञ्चम अनुवाकमें 'भूः','भुवः','स्वः' और 'महः'—इन चार व्याहृतियोंमें 'महः'को ब्रह्मका स्वरूप बताया गया है, अतः 'महः' व्याहृति ब्रह्मका नाम है और ब्रह्मको आत्माकी प्रतिष्ठा बतलाना सर्वथा युक्तिसंगत है।

शारीरः=शरीरान्तर्वर्ती; **आत्मा**=आत्मा है; **यः**=जो; **पूर्वस्य**=पहलेवालेका है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें विज्ञानात्माकी महिमाका वर्णन और उसकी ब्रह्मरूपसे उपासना करनेका फल बताया गया है। भाव यह है कि यह विज्ञान अर्थात् बुद्धिके साथ तद्रूप हुआ जीवात्मा ही यज्ञोंका अर्थात् शुभ-कर्मरूप पुण्योंका विस्तार करता है और यही अन्यान्य लौकिक कर्मोंका भी विस्तार करता है। अर्थात् जीवात्मासे ही सम्पूर्ण कर्मोंको प्रेरणा मिलती है। सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और मनरूप देवता सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मके रूपमें इस विज्ञानमय जीवात्माकी ही सेवा करते हैं, अपनी-अपनी वृत्तियोंद्वारा इसीको सुख पहुँचाते रहते हैं। यदि कोई साधक इस विज्ञानस्वरूप आत्माको ही ब्रह्म समझता है और यदि यह उस धारणासे कभी च्युत नहीं होता अर्थात् उस धारणामें भूल नहीं करता या शरीर आदिमें स्थित, एकदेशीय एवं बद्धस्वरूपमें ब्रह्मका अभिमान नहीं कर लेता तो वह अनेक जन्मोंके संचित पापसमुदायको शरीरमें ही छोड़कर समस्त दिव्य भोगोंका अनुभव करता है। इस प्रकार यह श्लोक है।

उस विज्ञानमयके भी अन्तर्यामी आत्मा वे ही परब्रह्म परमेश्वर हैं, जो पहलेवालोंके अर्थात् अन्नरसमय स्थूलशरीरके, प्राणमयके और मनोमयके हैं।

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

वै=निश्चय ही; **तस्मात्**=उस पहले कहे हुए; **एतस्मात्**=इस; **विज्ञानमयात्**=विज्ञानमय जीवात्मासे; **अन्यः**=भिन्न; **अन्तरः**=इसके भी भीतर रहनेवाला आत्मा; **आनन्दमयः आत्मा**=आनन्दमय परमात्मा है; **तेन**=उससे; **एषः**=यह विज्ञानमय; **पूर्णः**=पूर्णतः व्याप्त है; **सः**=वह; **एषः**=यह आनन्दमय परमात्मा; **वै**=भी; **पुरुषविधः**=पुरुषके समान आकारवाला; **एव**=ही है; **तस्य**=उस विज्ञानमयकी; **पुरुषविधताम् अनु**=पुरुषाकारतामें अनुगत होनेसे ही; **अयम्**=यह (आनन्दमय परमात्मा); **पुरुषविधः**=पुरुषाकार कहा जाता है;

तस्य=उस आनन्दमयका; **प्रियम्**=प्रिय; **एव**=ही; **शिरः**=(मानो) सिर है; **मोदः**=मोद; **दक्षिणः**=दाहिना; **पक्षः**=पंख है; **प्रमोदः**=प्रमोद; **उत्तरः**=बायाँ; **पक्षः**=पंख है; **आनन्दः**=आनन्द ही; **आत्मा**=शरीरका मध्यभाग है; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **पुच्छम्**=पूँछ; (एवं) **प्रतिष्ठा**=आधार है; **तत्**=उसकी महिमाके विषयमें; **अपि**=भी; **एषः**=यह; **श्लोकः भवति**=श्लोक है।

व्याख्या—पञ्चम अनुवाकके इस दूसरे अंशमें आनन्दमय परमपुरुषका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि पहले अंशमें कहे हुए विज्ञानमय जीवात्मासे भिन्न, उसके भी भीतर रहनेवाला एक दूसरा आत्मा है; वह है आनन्दमय परमात्मा। उससे यह विज्ञानमय पुरुष व्याप्त है अर्थात् वह इसमें भी परिपूर्ण है। बृहदारण्यक-उपनिषद् (३।७।२३) में भी परमात्माको जीवात्मारूप शरीरका शासन करनेवाला और उसका अन्तरात्मा बताया गया है। वे ही वास्तवमें समस्त पुरुषोंसे उत्तम होनेके कारण 'पुरुष' शब्दके अभिधेय हैं। वे विज्ञानमय पुरुषके समान आकारवाले हैं। उस विज्ञानमय पुरुषमें व्याप्त होनेके कारण ही वे पुरुषाकार कहे जाते हैं। पक्षीके रूपकमें उन आनन्दमय परमेश्वरके अङ्गोंकी कल्पना इस प्रकार की गयी है। प्रियभाव उनका सिर है। तात्पर्य यह कि आनन्दमय परमात्मा सबके प्रिय हैं। समस्त प्राणी 'आनन्द'से प्रेम करते हैं, सभी 'आनन्द' को चाहते हैं, परंतु न जाननेके कारण उन्हें पा नहीं सकते। यह 'प्रियता' उन आनन्दमय परमात्माका एक प्रधान अंश है; अतः यही मानो उनका प्रधान अङ्ग सिर है। मोद दाहिना पंख है, प्रमोद बायाँ पंख है, आनन्द ही परमात्माका मध्य अङ्ग है तथा स्वयं ब्रह्म ही इनकी पूँछ एवं आधार हैं। परमात्मा अवयवरहित होनेके कारण उनके स्वरूप और अङ्गोंका वर्णन वास्तविकरूपसे नहीं बन सकता। फिर ऐसी कल्पना क्यों की गयी? इसका समाधान करते हुए ब्रह्मसूत्र (३।३।१२ से ३।३।१४ तक) में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ब्रह्मके विषयमें ऐसी कल्पना केवल उपासनाकी सुगमताके लिये की जाती है, दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है। इस प्रकरणमें विज्ञानमयका अर्थ जीवात्मा और आनन्दमयका अर्थ परमात्मा ही लेना चाहिये, यह बात ब्रह्मसूत्र (१।१।१२ से १९ तकके

विवेचन) में युक्तियों तथा श्रुतियोंके प्रमाणोंद्वारा सिद्ध की गयी है।

इन आनन्दमय परमात्माके विषयमें भी आगे षष्ठ अनुवाकमें कहा जानेवाला श्लोक अर्थात् मन्त्र है।

॥ पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥ ५ ॥



षष्ठ अनुवाक

असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति।

चेत्=यदि; (कोई) **ब्रह्म**=ब्रह्म; **असत्**=नहीं है; **इति**=इस प्रकार; **वेद**=समझता है; (तो) **सः**=वह; **असत्**=असत्; **एव**=ही; **भवति**=हो जाता है; (और) **चेत्**=यदि; (कोई) **ब्रह्म**=ब्रह्म; **अस्ति**=है; **इति**=इस प्रकार; **वेद**=जानता है; **ततः**=तो; **एनम्**=इसको; (ज्ञानीजन) **सन्तम्**=संत—सत्पुरुष; **विदुः**=समझते हैं; **इति**=इस प्रकार यह श्लोक है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें ब्रह्मकी सत्ता माननेका और न माननेका फल बताया गया है। भाव यह है कि यदि कोई मनुष्य यह समझता है या ऐसा निश्चय करता है कि 'ब्रह्म असत् है' अर्थात् ब्रह्म या ईश्वर नामकी कोई चीज नहीं है तो वह 'असत्' हो जाता है, अर्थात् स्वेच्छाचारी होकर सदाचारसे भ्रष्ट नीच प्रकृतिका हो जाता है। यदि कोई मनुष्य ब्रह्मके यथार्थ तत्त्वको न जानकर भी यह समझता है कि 'निस्संदेह ब्रह्म है', अर्थात् शास्त्र और महापुरुषोंपर दृढ़ विश्वास होनेके कारण यदि उसके मनमें ईश्वरकी सत्तापर पूरा विश्वास हो गया है तो ऐसे मनुष्यको ज्ञानी और महापुरुष 'संत' अर्थात् सत्पुरुष समझते हैं; क्योंकि परमात्माके तत्त्वज्ञानकी पहली सीढ़ी उनकी सत्तामें विश्वास ही है। परमात्माकी सत्तामें विश्वास बना रहे तो कभी-न-कभी किन्हीं महापुरुषकी कृपासे साधनमें लगकर मनुष्य उन्हें प्राप्त भी कर सकता है।

तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य।

तस्य=उस (आनन्दमय) का भी; **एषः एव**=यही; **शारीरः**=शरीरान्तर्वर्ती; **आत्मा**=आत्मा है; **यः**=जो; **पूर्वस्य**=पहलेवाले (विज्ञानमय) का है।

व्याख्या—षष्ठ अनुवाकके इस दूसरे अंशमें पहलेके वर्णनानुसार आनन्दमयका अन्तरात्मा स्वयं आनन्दमयको ही बताया गया है। भाव यह है कि उन आनन्दमय ब्रह्मके वे स्वयं ही शरीरान्तर्वर्ती आत्मा हैं; क्योंकि उनमें शरीर और शरीरीका भेद नहीं है। जो पहले बताये हुए अन्नरसमय आदि सबके अन्तर्यामी परमात्मा हैं, वे स्वयं ही अपने अन्तर्यामी हैं; उनका अन्तर्यामी कोई दूसरा नहीं है। इसीलिये इनके आगे किसी दूसरेको न बताकर उस वर्णनकी परम्पराको यहीं समाप्त कर दिया गया है।

सम्बन्ध—*ऊपर कहे हुए अंशमें ब्रह्मको 'असत्' मानने और 'सत्' माननेका फल बताया गया है; उसे सुनकर प्रत्येक मनुष्यके मनमें जो प्रश्न उठ सकते हैं, उन प्रश्नोंका निर्णय करके उन ब्रह्मकी सत्ताका प्रतिपादन करनेके लिये श्रुति स्वयं ही प्रश्न उपस्थित करती है*—

अथातोऽनुप्रश्नाः। उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छती३। आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित्समश्नुता३ उ।

अथ=इसके बाद; **अतः**=यहाँसे; **अनुप्रश्नाः**=अनुप्रश्न आरम्भ होते हैं; **उत**=क्या; **अविद्वान्**=ब्रह्मको न जाननेवाला; **कश्चन**=कोई पुरुष; **प्रेत्य**=मरकर; **अमुम् लोकम् गच्छति**=उस लोकमें (परलोकमें) जाता है; **आहो**=अथवा; **कश्चित्**=कोई भी; **विद्वान्**=ज्ञानी; **प्रेत्य**=मरकर; **अमुम्**=उस; **लोकम्**=लोकको; **समश्नुते**=प्राप्त होता है; **उ**=क्या ?

व्याख्या—अब यहाँसे अनुप्रश्न* आरम्भ करते हैं। पहला प्रश्न तो यह है कि यदि ब्रह्म हैं तो उनको न जाननेवाला कोई भी मनुष्य मरनेके

---

* अनुप्रश्न उन प्रश्नोंको कहते हैं, जो आचार्यके उपदेशके अनन्तर किसी शिष्यके मनमें उठते हैं या जिन्हें वह उपस्थित करता है।

इस अनुवाकमें जो अनुप्रश्न पूछे गये हैं, वे दोके रूपमें तीन हैं—(१) वास्तवमें ब्रह्म है या नहीं? (२) जब ब्रह्म आकाशकी भाँति सर्वगत तथा पक्षपातरहित—सम हैं,

अनन्तर परलोकमें जाता है या नहीं ? दूसरा यह प्रश्न है कि ब्रह्मको जाननेवाला कोई भी विद्वान् मरनेके बाद परलोकको प्राप्त होता है या नहीं ?

सम्बन्ध—*इन प्रश्नोंके उत्तरमें श्रुति ब्रह्मके स्वरूप और शक्तिका वर्णन करती है तथा पहले अनुवाकमें जो संक्षेपसे सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम बताया था, उसे भी विशदरूपसे समझाया जाता है—*

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदँ सर्वमसृजत यदिदं किं च। तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्। यदिदं किं च। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति।

सः=उस परमेश्वरने; **अकामयत्**=विचार किया कि; **प्रजायेय**=मैं प्रकट होऊँ; (और अनेक नाम-रूप धारण करके) **बहु**=बहुत; **स्याम् इति**=हो जाऊँ; **सः**=(इसके बाद) उसने; **तपः अतप्यत**=तप किया अर्थात् अपने संकल्पका

तब वे अविद्वान् (अपना ज्ञान न रखनेवाले) को भी प्राप्त होते हैं या नहीं ? (३) यदि अविद्वान्‌को नहीं प्राप्त होते, तब तो सम होनेके कारण वे विद्वान्‌को भी नहीं प्राप्त होंगे। इसलिये यह तीसरा प्रश्न है कि विद्वान् पुरुष ब्रह्मका अनुभव करता है या नहीं ? इनके उत्तरमें ब्रह्मको सृष्टिका कारण बतलाकर अर्थतः उनकी सत्ता सिद्ध कर दी गयी। फिर 'तत् सत्यम् इत्याचक्षते·········' इस वाक्यद्वारा श्रुतिने स्पष्टरूपसे भी उनकी सत्ताका प्रतिपादन कर दिया। सातवें अनुवाकमें तो और भी स्पष्ट वचन मिलता है—'को ह्येवान्यात् ? कः प्राण्यात् ? यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।' अर्थात् यदि ये आकाशरूप आनन्दमय परमात्मा न होते तो कौन जीवित रहता और कौन चेष्टा भी कर सकता ? अर्थात् प्राणियोंका जीवन और चेष्टा परमात्मापर ही निर्भर है। दूसरे प्रश्नके उत्तरमें सप्तम अनुवाकमें यह बात कही गयी है कि जबतक मनुष्य परमात्माको पूर्णतया नहीं जान लेता, उनमें थोड़ा-सा भी अन्तर रख लेता है, तबतक वह जन्म-मरणके भयसे नहीं छूटता। तीसरे प्रश्नके उत्तरमें आठवें अनुवाकके उपसंहारमें श्रुति स्वयं कहती है—'स एवंवित्········ आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' अर्थात् 'जो इस प्रकार (परमात्माको) जानता है, वह क्रमशः अन्नमय, प्राणमय आदिको प्राप्त करता हुआ अन्तमें आनन्दमय परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है।'

****

विस्तार किया; **सः**=उसने; **तपः तप्त्वा**=इस प्रकार संकल्पका विस्तार करके; **यत् किम् च**=जो कुछ भी; **इदम्**=यह देखने और समझनेमें आता है; **इदम् सर्वम् असृजत**=इस समस्त जगत्‌की रचना की; **तत् सृष्ट्वा**=उस जगत्‌की रचना करनेके अनन्तर; **तत् एव**=(वह स्वयं) उसीमें; **अनुप्राविशत्**= साथ-साथ प्रविष्ट हो गया; **तत् अनुप्रविश्य**=उसमें साथ-साथ प्रविष्ट होनेके बाद (वह स्वयं ही); **सत्**=मूर्त; **च**=और; **त्यत्**=अमूर्त; **च**=भी; **अभवत्**=हो गया; **निरुक्तम् च अनिरुक्तम्**=बतानेमें आनेवाले और न आनेवाले; **च**=तथा; **निलयनम्**=आश्रय देनेवाले; **च**=और; **अनिलयनम्**=आश्रय न देनेवाले; **च**=तथा; **विज्ञानम्**=चेतनायुक्त; **च**=और; **अविज्ञानम्**=जड पदार्थ; **च**=तथा; **सत्यम्**=सत्य; **च**=और; **अनृतम्**=झूठ (इन सबके रूपमें); **च**=भी; **सत्यम्**= वह सत्यस्वरूप परमात्मा ही; **अभवत्**=हो गया; **यत् किम् च**=जो कुछ भी; **इदम्**=यह दिखायी देता है और अनुभवमें आता है; **तत्**=वह; **सत्यम्**=सत्य ही है; **इति**=इस प्रकार; **आचक्षते**=ज्ञानीजन कहते हैं; **तत्**=उस विषयमें; **अपि**=भी; **एषः**=यह; **श्लोकः**=श्लोक; **भवति**=है।

व्याख्या—सर्गके आदिमें परब्रह्म परमात्माने यह विचार किया कि मैं नानारूपमें उत्पन्न होकर बहुत हो जाऊँ। यह विचार करके उन्होंने तप किया अर्थात् जीवोंके कर्मानुसार सृष्टि उत्पन्न करनेके लिये संकल्प किया। संकल्प करके यह जो कुछ भी देखने, सुनने और समझनेमें आता है, उस जड-चेतनमय समस्त जगत्‌की रचना की, अर्थात् इसका संकल्पमय स्वरूप बना लिया। उसके बाद स्वयं भी उसमें प्रविष्ट हो गये। यद्यपि अपनेसे ही उत्पन्न इस जगत्‌में वे परमेश्वर पहलेसे ही प्रविष्ट थे—यह जगत् जब उन्हींका स्वरूप है, तब उसमें उनका प्रविष्ट होना नहीं बनता—तथापि जड-चेतनमय जगत्‌में आत्मारूपसे परिपूर्ण हुए उन परब्रह्म परमेश्वरके विशेष स्वरूप—उनके अन्तर्यामी स्वरूपका लक्ष्य करानेके लिये यहाँ यह बात कही गयी है कि 'इस जगत्‌की रचना करके वे स्वयं भी उसमें प्रविष्ट हो गये।' प्रविष्ट होनेके बाद वे मूर्त और अमूर्तरूपसे अर्थात् देखनेमें आनेवाले पृथ्वी,

जल और तेज—इन भूतोंके रूपमें तथा वायु और आकाश—इन न दिखायी देनेवाले भूतोंके रूपमें प्रकट हो गये। फिर जिनका वर्णन किया जा सकता है और नहीं किया जा सकता; ऐसे विभिन्न नाना पदार्थोंके रूपमें हो गये। इसी प्रकार आश्रय देनेवाले और आश्रय न देनेवाले, चेतन और जड—इन सबके रूपमें वे एकमात्र परमेश्वर ही बहुत-से नाम और रूप धारण करके व्यक्त हो गये। वे एक सत्यस्वरूप परमात्मा ही सत्य और झूठ—इन सबके रूपमें हो गये। इसीलिये ज्ञानीजन कहते हैं कि 'यह जो कुछ देखने, सुनने और समझनेमें आता है, वह सब-का-सब सत्यस्वरूप परमात्मा ही है।'

इस विषयमें भी यह आगे सप्तम अनुवाकमें कहा जानेवाला श्लोक अर्थात् मन्त्र है।

॥ षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥ ६ ॥



सप्तम अनुवाक

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानँ् स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति।

अग्रे=प्रकट होनेसे पहले; **इदम्**=यह जड-चेतनात्मक जगत्; **असत्**=अव्यक्तरूपमें; **वै**=ही; **आसीत्**=था; **ततः**=उससे; **वै**=ही; **सत्**=सत् अर्थात् नामरूपमय प्रत्यक्ष जगत्; **अजायत**=उत्पन्न हुआ है; **तत्**=उसने; **आत्मानम्**=अपनेको; **स्वयम्**=स्वयं; **अकुरुत**=(इस रूपमें) प्रकट किया है; **तस्मात्**=इसीलिये; **तत्**=वह; **सुकृतम्**='सुकृत'; **उच्यते**=कहा जाता है; **इति**=इस प्रकार यह श्लोक है।

व्याख्या—सूक्ष्म और स्थूलरूपमें प्रकट होनेसे पहले यह जड-चेतनमय सम्पूर्ण जगत् असत्—अर्थात् अव्यक्तरूपमें ही था; उस अव्यक्तावस्थासे ही यह सत् अर्थात् नामरूपमय प्रत्यक्ष जड-चेतनात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है। परमात्माने अपनेको स्वयं ही इस जड-चेतनात्मक जगत्के रूपमें बनाया है;

इसीलिये उनका नाम 'सुकृत' (अपने-आप बना हुआ) है।*

यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः। रसँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति।

वै=निश्चय ही; **यत्**=जो; **तत्**=वह; **सुकृतम्**=सुकृत है; **सः वै**=वही; **रसः**=रस है; **हि**=क्योंकि; **अयम्**=यह (जीवात्मा); **रसम्**=इस रसको; **लब्ध्वा**=प्राप्त करके; **एव**=ही; **आनन्दी**=आनन्दयुक्त; **भवति**=होता है; **यत्**=यदि; **एषः**=यह; **आकाशः**=आकाशकी भाँति व्यापक; **आनन्दः**=आनन्दस्वरूप परमात्मा; **न स्यात्**=न होता; **हि**=तो; **कः एव**=कौन; **अन्यात्**=जीवित रह सकता; (और) **कः**=कौन; **प्राण्यात्**=प्राणोंकी क्रिया (चेष्टा) कर सकता; **हि**=निःसंदेह; **एषः**=यह परमात्मा; **एव**=ही; **आनन्दयाति**=सबको आनन्द प्रदान करता है।

व्याख्या—ये जो ऊपरके वर्णनमें 'सुकृत' नामसे कहे गये हैं, वे परब्रह्म परमात्मा सचमुच रसस्वरूप (आनन्दमय) हैं, ये ही वास्तविक आनन्द हैं; क्योंकि अनादिकालसे जन्म-मृत्युरूप घोर दुःखका अनुभव करनेवाला यह जीवात्मा इन रसमय परब्रह्मको पाकर ही आनन्दयुक्त होता है। जबतक इन परम प्राप्य आनन्दस्वरूप परमेश्वरसे इसका संयोग नहीं हो जाता, तबतक इसे किसी भी स्थितिमें पूर्णानन्द, नित्यानन्द, अखण्डानन्द और अनन्त आनन्द नहीं

---

* गीतामें कई प्रकारसे इस जड-चेतनात्मक जगत्का अव्यक्तसे उत्पन्न होना और उसीमें लय होना बताया गया है (गीता ८। १८; ९। ७; २। २८)। परंतु भगवान् जब स्वयं अवतार लेकर लीला करनेके लिये जगत्में प्रकट होते हैं; तब उनका वह प्रकट होना अन्य जीवोंकी भाँति अव्यक्तसे व्यक्त होने अर्थात् कारणसे कार्यरूपमें परिवर्तित होनेके समान नहीं है, वह तो अलौकिक है। इसलिये यहाँ भगवान्ने कहा है कि जो मुझे अव्यक्त-से व्यक्त हुआ मानते हैं, वे बुद्धिहीन हैं (७। २४); वहाँ जडतत्त्वोंका और उनके नियमोंका प्रवेश नहीं है। भगवान्के नाम, रूप, लीला, धाम—सब कुछ अप्राकृत हैं, चिन्मय हैं। उनके जन्म-कर्म दिव्य हैं। भगवान्के प्राकट्यका रहस्य बड़े-बड़े देवता और महर्षिलोग भी नहीं जानते (गीता १०। २)।

मिल सकता। इसीसे उन वास्तविक आनन्दस्वरूप परमात्माका अस्तित्व निःसंदेह सिद्ध होता है; क्योंकि यदि ये आकाशकी भाँति व्यापक आनन्दस्वरूप परमात्मा नहीं होते तो कौन जीवित रह सकता और कौन प्राणोंकी क्रिया—हिलना-डुलना आदि कर सकता? अर्थात् समस्त प्राणी सुखस्वरूप परमात्माके ही सहारे जीते और हलन-चलन आदि चेष्टा करते हैं। इतना ही नहीं, सबके जीवन-निर्वाहकी सब प्रकारसे सुव्यवस्था करनेवाले भी वे ही हैं; अन्यथा इस जगत्की समस्त भौतिक क्रिया, जो नियमित और व्यवस्थितरूपसे चल रही है, कैसे हो सकती? अतः मनुष्यको यह दृढ़ता-पूर्वक विश्वास करना चाहिये कि इस जगत्के कर्ता-हर्ता परब्रह्म परमेश्वर अवश्य हैं तथा निःसंदेह ये परमात्मा ही सबको आनन्द प्रदान करते हैं। जब आनन्दस्वरूप एकमात्र परमात्मा ही हैं, तब दूसरा कौन आनन्द दे सकता है?

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति।

हि=क्योंकि; **यदा एव**=जब कभी; **एषः**=यह जीवात्मा; **एतस्मिन्**=इस; **अदृश्ये**=देखनेमें न आनेवाले; **अनात्म्ये**=शरीररहित; **अनिरुक्ते**=बतलानेमें न आनेवाले; (और) **अनिलयने**=दूसरेका आश्रय न लेनेवाले परब्रह्म परमात्मा-में; **अभयम्**=निर्भयतापूर्वक; **प्रतिष्ठाम्**=स्थिति; **विन्दते**=लाभ करता है; **अथ**=तब; **सः**=वह; **अभयम्**=निर्भयपदको; **गतः**=प्राप्त; **भवति**=हो जाता है।

व्याख्या—क्योंकि उन परब्रह्म परमेश्वरको पानेकी अभिलाषा रखनेवाला यह जीव जब कभी देखनेमें न आनेवाले, बतलानेमें न आनेवाले और किसीके आश्रित न रहनेवाले शरीररहित परब्रह्म परमात्मामें निर्भय (अविचल) स्थिति लाभ करता है, उस समय वह निर्भयपदको प्राप्त हो जाता है—सदाके लिये भय एवं शोकसे रहित हो जाता है।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति।

हि=क्योंकि; **यदा एव**=जबतक; **एषः**=यह; **उदरम्**=थोड़ा-सा **[वै=]** भी;

एतस्मिन् अन्तरम्=इस परमात्मासे वियोग; **कुरुते**=किये रहता है; **अथ**=तबतक; **तस्य**=उसको; **भयम्**=जन्म-मृत्युरूप भय; **भवति**=प्राप्त होता है; **तु**=तथा; **तत् एव**= वही; **भयम्**=भय; (केवल मूर्खको ही नहीं होता, किंतु) **मन्वानस्य**=अभिमानी; **विदुषः**=शास्त्रज्ञ विद्वान्‌को भी अवश्य होता है; **तत्**=उसके विषयमें; **अपि**=भी; **एषः**=यह (आगे कहा हुआ); **श्लोकः**=श्लोक; **भवति**=है।

व्याख्या—क्योंकि जबतक यह जीवात्मा उन परब्रह्म परमात्मासे थोड़ा-सा भी अन्तर किये रहता है—उनमें पूर्ण स्थिति लाभ नहीं कर लेता या उनका निरन्तर स्मरण नहीं करता—उन्हें थोड़ी देरके लिये भी भूल जाता है, तबतक उसके लिये भय है, अर्थात् उसका पुनर्जन्म होना सम्भव है; क्योंकि जिस समय उसकी परमात्मामें स्थिति नहीं है, वह भगवान्‌को भूला हुआ है, उसी समय यदि उसकी मृत्यु हो गयी तो फिर उसका अन्तिम संस्कारके अनुसार जन्म होना निश्चित है; क्योंकि भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'जिस-जिस भावको स्मरण करता हुआ मनुष्य अन्तकालमें शरीर छोड़ता है, उसीके अनुसार उसे जन्म ग्रहण करना पड़ता है (८।६)' और मृत्यु प्रारब्धके अनुसार किसी क्षण भी आ सकती है। इसीलिये योगभ्रष्टका पुनर्जन्म होनेकी बात गीतामें कही गयी है (६।४०—४२)। जबतक परमात्मामें पूर्ण स्थिति नहीं हो जाती अथवा जबतक भगवान्‌का निरन्तर स्मरण नहीं होता, तबतक यह पुनर्जन्मका भय—जन्म-मृत्युका भय सभीके लिये बना हुआ है—चाहे कोई बड़े-से-बड़ा शास्त्रज्ञ विद्वान् क्यों न हो और चाहे कोई अपनेको बड़े-से-बड़ा ज्ञानी अथवा पण्डित क्यों न माने। वे परमेश्वर सबपर शासन करनेवाले हैं, उन्हींकी शासन-शक्तिसे जगत्‌की सारी व्यवस्था नियमितरूपसे चल रही है। इसी विषयपर यह आगे अष्टम अनुवाकमें कहा जानेवाला श्लोक अर्थात् मन्त्र है।

॥ सप्तम अनुवाक समाप्त ॥ ७ ॥



अष्टम अनुवाक

सम्बन्ध—*पिछले अनुवाकमें जिस श्लोकका लक्ष्य कराया गया था, उसका उल्लेख करते हैं—*

भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति।

अस्मात् भीषा=इसीके भयसे; **वातः**=पवन; **पवते**=चलता है; **भीषा**=(इसीके) भयसे; **सूर्यः**=सूर्य; **उदेति**=उदय होता है; **अस्मात् भीषा**=इसीके भयसे; **अग्निः**=अग्नि; **च**=और; **इन्द्रः**=इन्द्र; **च**=और; **पञ्चमः**=पाँचवाँ; **मृत्युः**=मृत्यु; **धावति**=(ये सब) अपना-अपना कार्य करनेमें प्रवृत्त हो रहे हैं; **इति**=इस प्रकार यह श्लोक है।

व्याख्या—इन परब्रह्म परमेश्वरके भयसे ही पवन नियमानुसार चलता है, इन्हींके भयसे सूर्य ठीक समयपर उदय होता है और ठीक समयपर अस्त होता है तथा इन्हींके भयसे अग्नि, इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु—ये सब अपना-अपना कार्य नियमपूर्वक सुव्यवस्थितरूपसे कर रहे हैं। यदि इन सबकी सुव्यवस्था करनेवाला इन सबका प्रेरक कोई न हो तो जगत्‌के सारे काम कैसे चलें। इससे सिद्ध होता है कि इन सबको बनानेवाला, सबको यथायोग्य नियममें रखनेवाला कोई एक सत्य, ज्ञान और आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा अवश्य है और वह मनुष्यको अवश्य मिल सकता है*।

सम्बन्ध—*उन आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्माका यह आनन्द कितना और कैसा है, इस जिज्ञासापर आनन्दविषयक विचार आरम्भ किया जाता है—*

सैषाऽऽनन्दस्य मीमाꣳसा भवति। युवा स्यात्साधुयुवाध्यायक आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।

सा=वह; **एषा**=यह; **आनन्दस्य**=आनन्दसम्बन्धी; **मीमांसा**=विचार;

---

* इसी भावकी श्रुति कठोपनिषद्‌में भी आयी है (२।३।३)।

भवति=आरम्भ होता है; **युवा**=कोई युवक; **स्यात्**=हो; (वह भी ऐसा-वैसा नहीं) **साधुयुवा**=श्रेष्ठ आचरणवाला युवक हो; (तथा) **अध्यायकः**=वेदोंका अध्ययन कर चुका हो; **आशिष्ठः**=शासनमें अत्यन्त कुशल हो; **द्रढिष्ठः**= उसके सम्पूर्ण अङ्ग और इन्द्रियाँ सर्वथा दृढ़ हों; (तथा) **बलिष्ठः**=वह सब प्रकारसे बलवान् हो; **तस्य**=(फिर) उसे; **इयम्**=यह; **वित्तस्य पूर्णा**=धनसे परिपूर्ण; **सर्वा**=सब-की-सब; **पृथिवी**=पृथ्वी;; **स्यात्**=प्राप्त हो जाय; (तो) **सः**=वह; **मानुषः**=मनुष्यलोकका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है।

व्याख्या—इस वर्णनमें उस आनन्दका विचार आरम्भ करनेकी सूचना देकर सर्वप्रथम मनुष्यलोकके भोगोंसे मिल सकनेवाले बड़े-से-बड़े आनन्दकी कल्पना की गयी है। भाव यह है कि एक मनुष्य युवा हो; वह भी ऐसा-वैसा मामूली युवक नहीं—सदाचारी, अच्छे स्वभाववाला, अच्छे कुलमें उत्पन्न श्रेष्ठ पुरुष हो; उसे सम्पूर्ण वेदोंकी शिक्षा मिली हो तथा शासनमें— ब्रह्मचारियोंको सदाचारकी शिक्षा देनेमें अत्यन्त कुशल हो; उसके सम्पूर्ण अङ्ग और इन्द्रियाँ रोगरहित, समर्थ और सुदृढ़ हों और वह सब प्रकारके बलसे सम्पन्न हो। फिर धन-सम्पत्तिसे भरी यह सम्पूर्ण पृथ्वी उसके अधिकारमें आ जाय तो यह मनुष्यका एक बड़े-से-बड़ा सुख है। वह मानव-लोकका एक सबसे महान् आनन्द है।

ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे; **ये**=जो; **मानुषाः**=मनुष्यलोक-सम्बन्धी; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दः**= आनन्द हैं; **सः**=वह; **मनुष्यगन्धर्वाणाम्**=मानव-गन्धर्वोंका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द होता है; **च**=और (वह); **अकामहतस्य**=जिसका अन्तः-करण भोगोंकी कामनाओंसे दूषित नहीं हुआ है, ऐसे; **श्रोत्रियस्य**=वेदवेत्ता पुरुषको स्वभावसे ही प्राप्त है।

व्याख्या—जो मनुष्ययोनिमें उत्तम कर्म करके गन्धर्वभावको प्राप्त हुए हैं, उनको 'मनुष्य-गन्धर्व' कहते हैं। यहाँ इनके आनन्दको उपर्युक्त मनुष्यके आनन्दसे सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि जिस मनुष्य-सम्बन्धी

आनन्दका पहले वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर आनन्दकी जो एक राशि होती है, उतना मनुष्य-गन्धर्वोंका एक आनन्द है। परन्तु जो पहले बताये हुए मनुष्यलोकके भोगोंकी और इस गन्धर्वलोकके भोगोंतककी कामनासे दूषित नहीं है, इन सबसे सर्वथा विरक्त है, उस श्रोत्रिय—वेदज्ञ पुरुषको तो वह आनन्द स्वभावसे ही प्राप्त है।

ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे (पूर्वोक्त); **ये**=जो; **मनुष्यगन्धर्वाणाम्**=मनुष्य-गन्धर्वोंके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **देवगन्धर्वाणाम्**=देवजातीय गन्धर्वोंका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=तथा; (वही) **अकामहतस्य**=कामनाओंसे अदूषित चित्तवाले; **श्रोत्रियस्य**=श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को स्वभावतः प्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें पहले बताये हुए मनुष्य-गन्धर्वोंकी अपेक्षा देव-गन्धर्वोंके आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि जिस मनुष्य-गन्धर्वके आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी राशि होती है, उतना सृष्टिके आरम्भसे देवजातीय गन्धर्वरूपमें उत्पन्न हुए जीवोंका एक आनन्द है तथा जो मनुष्य इस आनन्दकी कामनासे आहत नहीं हुआ है अर्थात् जिसको इसकी आवश्यकता नहीं है तथा जो वेदके उपदेशको हृदयङ्गम कर चुका है, ऐसे विद्वान्‌को वह आनन्द स्वभावतः प्राप्त है।

ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे (पूर्वोक्त); **ये**=जो; **देवगन्धर्वाणाम्**=देवजातीय गन्धर्वोंके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **चिरलोकलोकानाम्**=चिरस्थायी पितृलोकको प्राप्त हुए; **पितॄणाम्**=पितरोंका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=और; (वह) **अकामहतस्य**=भोगोंके प्रति निष्काम; **श्रोत्रियस्य**=वेदज्ञ पुरुषको स्वतः प्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें देव-गन्धर्वोंके आनन्दकी अपेक्षा चिरस्थायी पितृलोकको प्राप्त दिव्य पितरोंके आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि देव-गन्धर्वोंके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर आनन्दकी जो एक राशि होती है, उतना चिरस्थायी पितृलोकमें रहनेवाले दिव्य पितरोंका एक आनन्द है तथा जो उस लोकके भोग-सुखकी कामनासे आहत नहीं है, अर्थात् जिसको उसकी आवश्यकता ही नहीं रही है, उस श्रोत्रियको—वेदके रहस्यको समझनेवाले विरक्तको वह आनन्द स्वतः ही प्राप्त है।

ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे (पूर्वोक्त); **ये**=जो; **चिरलोकलोकानाम्**=चिरस्थायी पितृलोकको प्राप्त हुए; **पितृणाम्**=पितरोंके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **आजानजानाम्**=आजानज नामक; **देवानाम्**=देवताओंका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=और (वह आनन्द); **अकामहतस्य**=उस लोकतकके भोगोंमें कामनारहित; **श्रोत्रियस्य**=श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को स्वभावतः प्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें चिरस्थायी लोकोंमें रहनेवाले दिव्य पितरोंके आनन्दकी अपेक्षा 'आजानज' नामक देवोंके आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि चिरस्थायी लोकोंमें रहनेवाले दिव्य पितरोंके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंकी मात्राको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना 'आजानज' नामक देवताओंका एक आनन्द है। देवलोकके एक विशेष स्थानका नाम 'आजान' है; जो लोग स्मृतियोंमें प्रतिपादित किन्हीं पुण्य-कर्मोंके कारण वहाँ उत्पन्न हुए हैं, उन्हें 'आजानज' कहते हैं। जो उस लोकतकके भोगोंकी कामनासे आहत नहीं है, अर्थात् जो उस आनन्दको भी तुच्छ समझकर उससे विरक्त हो गया है, उस वेदके रहस्यको समझनेवाले विरक्त पुरुषके लिये तो वह आनन्द स्वभावसिद्ध है।

ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्म-देवानां देवानामानन्दः। ये कर्मणा देवानपियन्ति श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे (पूर्वोक्त); **ये**=जो; **आजानजानाम्**=आजानज नामक; **देवानाम्**=देवोंके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **कर्मदेवानाम् देवानाम्**=(उन) कर्मदेव नामक देवताओंका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **ये**=जो; **कर्मणा**=वेदोक्त कर्मोंसे; **देवान्**=देवोंको; **अपियन्ति**=प्राप्त हुए हैं; **च**=और; (वह) **अकामहतस्य**=उस लोकतकके भोगोंमें कामनारहित; **श्रोत्रियस्य**=श्रोत्रिय (वेदज्ञ)को तो स्वतः प्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें आजानज देवोंके आनन्दकी अपेक्षा कर्मदेवोंके आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि आजानज देवोंके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना आनन्द जो वेदोक्त कर्मोंद्वारा मनुष्ययोनिसे देवभावको प्राप्त हुए हैं, उन कर्मदेवताओंका आनन्द है। जो उन कर्मदेवताओंतकके आनन्दकी कामनासे आहत नहीं है, अर्थात् जिसको देवलोकतकके भोगोंकी इच्छा नहीं रही है, उस वेदके रहस्यको समझनेवाले विरक्त पुरुषके लिये तो वह आनन्द स्वभावसिद्ध है।

ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः। स एको देवाना-मानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे (पूर्वोक्त); **ये**=जो; **कर्मदेवानाम् देवानाम्**=कर्मदेव नामक देवताओंके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **देवानाम्**=देवताओंका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=और; (वह) **अकामहतस्य**=उस लोकतकके भोगोंमें कामनारहित; **श्रोत्रियस्य**=श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को तो स्वभावतः प्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें कर्मदेवोंकी अपेक्षा सृष्टिके आदिकालमें जिन स्थायी देवोंकी उत्पत्ति हुई है, उन स्वभावसिद्ध देवोंके आनन्दको सौगुना

बताया गया है। भाव यह है कि कर्मदेवोंके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना उन स्वभावसिद्ध देवताओंका एक आनन्द है। जो उन स्वभावसिद्ध देवताओंके भोगानन्दकी कामनासे आहत नहीं है, अर्थात् उसकी भी जिसको कामना नहीं है, उस वेदके रहस्यको समझनेवाले निष्काम विरक्तके लिये तो वह आनन्द स्वभावसिद्ध ही है।

ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे; **ये**=जो; **देवानाम्**=देवताओंके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **इन्द्रस्य**=इन्द्रका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=और; (वह) **अकामहतस्य**=इन्द्रतकके भोगोंमें कामनारहित; **श्रोत्रियस्य**=वेदवेत्ताको स्वतः प्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें पहले बताये हुए स्वभावसिद्ध देवोंके आनन्दकी अपेक्षा इन्द्रके आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि देवताओंके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना इन्द्रभावको प्राप्त देवताका एक आनन्द है। जो इन्द्रके भोगानन्दकी कामनासे आहत नहीं हुआ है, अर्थात् जिसको इन्द्रके सुखकी भी आकाङ्क्षा नहीं है—जो उसे भी तुच्छ समझकर उससे विरक्त हो गया है, उस वेदके रहस्यको समझनेवाले निष्काम पुरुषको तो वह आनन्द स्वतः प्राप्त है।

ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे; **ये**=जो; **इन्द्रस्य**=इन्द्रके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **बृहस्पतेः**=बृहस्पतिका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=और; (वह) **अकामहतस्य**=बृहस्पतितकके भोगोंमें निःस्पृह; **श्रोत्रियस्य**=वेदवेत्ताको स्वतः प्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें इन्द्रके आनन्दकी अपेक्षा बृहस्पतिके आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि इन्द्रके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है; वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना बृहस्पतिके पदको प्राप्त हुए देवताका एक आनन्द है। परंतु जो मनुष्य बृहस्पतिके भोगानन्दकी कामनासे भी आहत नहीं है, उस भोगानन्दको भी अनित्य होनेके कारण जो तुच्छ समझकर उससे विरक्त हो चुका है, उस वेदके रहस्यको जाननेवाले निष्काम मनुष्यको वह आनन्द स्वतः प्राप्त है।

ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे; **ये**=जो; **बृहस्पतेः**=बृहस्पतिके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **प्रजापतेः**=प्रजापतिका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=और; (वह) **अकामहतस्य**=प्रजापतितकके भोगोंमें कामनारहित; **श्रोत्रियस्य**=वेदवेत्ता पुरुषको स्वतः प्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें बृहस्पतिके आनन्दकी अपेक्षा प्रजापतिके आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि बृहस्पतिके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना प्रजापतिके पदपर आरूढ़ देवताका एक आनन्द है। परंतु जो मनुष्य इस प्रजापतिके भोगानन्दकी कामनासे भी आहत नहीं है, अर्थात् उससे भी जो विरक्त हो चुका है, उस वेदके रहस्यको जाननेवाले निष्काम मनुष्यको तो वह आनन्द स्वभावसे ही प्राप्त है।

ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे; **ये**=जो; **प्रजापतेः**=प्रजापतिके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **ब्रह्मणः**=ब्रह्माका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=और; (वह) **अकामहतस्य**=ब्रह्मलोकतकके भोगोंमें कामनारहित; **श्रोत्रियस्य**=श्रोत्रिय (वेदज्ञ)को स्वभावतः प्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें प्रजापतिके आनन्दसे भी हिरण्यगर्भ ब्रह्माके आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि प्रजापतिके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो एक आनन्दकी राशि होती है, उतना सृष्टिके आरम्भमें सबसे पहले उत्पन्न होनेवाले हिरण्यगर्भ ब्रह्माका एक आनन्द है तथा जो मनुष्य उस ब्रह्माके पदसे प्राप्त भोगसुखकी कामनासे भी आहत नहीं है, अर्थात् जो उसे भी अनित्य और तुच्छ समझकर उससे विरक्त हो गया है, जिसको एकमात्र परमानन्द-स्वरूप परब्रह्मको प्राप्त करनेकी ही उत्कट अभिलाषा है, उस वेदके रहस्यको समझनेवाले विरक्त पुरुषको वह आनन्द स्वतः प्राप्त है।

इस प्रकार यहाँ एकसे दूसरे आनन्दकी अधिकताका वर्णन करते-करते सबसे बढ़कर हिरण्यगर्भके आनन्दको बताकर यह भाव दिखाया गया है कि इस जगत्‌में जितने प्रकारके जो-जो आनन्द देखने-सुनने तथा समझनेमें आ सकते हैं, वे चाहे कितने ही बड़े क्यों न हों, उस पूर्णानन्दस्वरूप परमात्माके आनन्दकी तुलनामें बहुत ही तुच्छ हैं। बृहदारण्यकमें कहा भी है कि 'समस्त प्राणी इसी परमात्मसम्बन्धी आनन्दके किसी एक अंशको लेकर ही जीते हैं (४।३।३२)।'

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः। स य एवं-विदस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं मनोमयमात्मान-मुपसंक्रामति। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतमानन्द-मयमात्मानमुपसंक्रामति। तदप्येष श्लोको भवति।

सः=वह (परमात्मा); **यः**=जो; **अयम्**=यह; **पुरुषे**=मनुष्यमें; **च**=और; **यः**=जो; **असौ**=वह; **आदित्ये च**=सूर्यमें भी है; **सः**=वह (सबका अन्तर्यामी); **एकः**=एक ही है; **यः**=जो; **एवंवित्**=इस प्रकार जाननेवाला है; **सः**=वह; **अस्मात् लोकात्**=इस लोकसे; **प्रेत्य**=विदा होकर; **एतम्**=इस; **अन्नमयम्**=अन्नमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रामति**=प्राप्त हो जाता है; **एतम्**=इस;

प्राणमयम्=प्राणमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रामति**=प्राप्त होता है; **एतम्**=इस; **मनोमयम्**=मनोमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रामति**=प्राप्त होता है; **एतम्**=इस; **विज्ञानमयम्**=विज्ञानमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रामति**=प्राप्त होता है; **एतम्**=इस; **आनन्दमयम्**=आनन्दमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रामति**=प्राप्त होता है; **तत्**=उसके विषयमें; **अपि**=भी; **एषः**=यह (आगे कहा जानेवाला); **श्लोकः**=श्लोक; **भवति**=है।

व्याख्या—ऊपर बताये हुए समस्त आनन्दोंके एकमात्र केन्द्र परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही सबके अन्तर्यामी हैं। जो परमात्मा मनुष्योंमें हैं, वे ही सूर्यमें भी हैं। वे सबके अन्तर्यामी एक ही हैं। जो इस प्रकार जान लेता है, वह मरनेपर इस मनुष्य-शरीरको छोड़कर उस पहले बताये हुए अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि इन पाँचोंके जो आत्मा हैं, ये पाँचों जिनके स्वरूप हैं, उन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। पहले इन पाँचोंका वर्णन करते समय सबका शरीरान्तर्वर्ती आत्मा अन्तर्यामी परमात्माको ही बतलाया था। फलरूपमें उन्हींकी प्राप्ति होती है और वे ही ब्रह्म हैं—यह बतलानेके लिये ही यहाँ पाँचोंको क्रमसे प्राप्त होनेकी बात कही गयी है। वास्तवमें इस क्रमसे प्राप्त होनेकी बात कहना अभीष्ट नहीं है; क्योंकि अन्नमय मनुष्य-शरीरको तो वह पहलेसे प्राप्त था ही, उसे छोड़कर जानेके बाद प्राप्त होनेवाला फल परमात्मा है, शरीर नहीं। अतः यहाँ अन्नमय आदिके अन्तर्यामी परमात्माकी ही प्राप्ति बतायी गयी है। इसलिये इन सबमें परिपूर्ण, सर्वरूप, सबके आत्मा, परम आनन्दस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त हो जाना ही इस फल-श्रुतिका तात्पर्य है। इसके विषयमें आगे नवम अनुवाकमें कहा जानेवाला यह श्लोक भी है।

॥ अष्टम अनुवाक समाप्त ॥ ८ ॥



नवम अनुवाक

सम्बन्ध—*आठवें अनुवाकमें जिस श्लोक (मन्त्र) को लक्ष्य कराया गया है, उसका उल्लेख किया जाता है—*

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।

मनसा सह=मनके सहित; **वाचः**=वाणी आदि समस्त इन्द्रियाँ; **यतः**=जहाँसे; **अप्राप्य**=उसे न पाकर; **निवर्तन्ते**=लौट आती हैं; **[तस्य] ब्रह्मणः**=उस ब्रह्मके; **आनन्दम्**=आनन्दको; **विद्वान्**=जाननेवाला (महापुरुष); **कुतश्चन**=किसीसे भी; **न बिभेति**=भय नहीं करता; **इति**=इस प्रकार यह श्लोक है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें परब्रह्म परमात्माके परमानन्दस्वरूपको जाननेका फल बताया गया है। भाव यह है कि मनके सहित सभी इन्द्रियाँ उसे न पाकर जहाँसे लौट आती हैं—जिस ब्रह्मानन्दको जाननेकी इन मन और इन्द्रियोंकी शक्ति नहीं है, परब्रह्म परमात्माके उस आनन्दको जाननेवाला ज्ञानी महापुरुष कभी किसीसे भी भय नहीं करता, वह सर्वथा निर्भय हो जाता है। इस प्रकार इस श्लोकका तात्पर्य है।

एतँ ह वाव न तपति। किमहँ साधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानँ स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानँ स्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत्।

ह वाव=यह प्रसिद्ध ही है कि ; **एतम्**=उस (महापुरुष) को; (यह बात) **न तपति**=चिन्तित नहीं करती कि; **अहम्**=मैंने; **किम्**=क्यों; **साधु**=श्रेष्ठ कर्म; **न**=नहीं; **अकरवम्**=किया; **किम्**=(अथवा) क्यों; **अहम्**=मैंने; **पापम्**=पापाचरण; **अकरवम् इति**=किया; **यः**=जो; **एते**=इन पुण्य-पापकर्मोंको; **एवम्**=इस प्रकार (संतापका हेतु); **विद्वान्**=जाननेवाला है; **सः**=वह; **आत्मानम् स्पृणुते**=आत्माकी रक्षा करता है; **हि**=अवश्य ही; **यः**=जो; **एते**=इन पुण्य और पाप; **उभे एव**=दोनों ही कर्मोंको; **एवम्**=इस प्रकार

(संतापका हेतु); **वेद**=जानता है; **[सः] एषः**=वह यह पुरुष; **आत्मानम् स्पृणुते**=आत्माकी रक्षा करता है; **इति**=इस प्रकार; **उपनिषत्**=उपनिषद् (की ब्रह्मानन्दवल्ली) पूरी हुई।

व्याख्या—इस वर्णनमें यह बात कही गयी है कि ज्ञानी महापुरुषको किसी प्रकारका शोक नहीं होता। भाव यह है कि परमात्माको ऊपर बताये अनुसार जाननेवाला विद्वान् कभी इस प्रकार शोक नहीं करता कि 'क्यों मैंने श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण नहीं किया, अथवा क्यों मैंने पाप-कर्म किया।' उसके मनमें पुण्य-कर्मोंके फलस्वरूप उत्तम लोकोंकी प्राप्तिका लोभ नहीं होता और उसे पापजनित नरकादिका भय भी नहीं सताता। लोभ और भयजनित संतापसे वह ऊँचा उठ जाता है। उक्त ज्ञानी महापुरुष आसक्तिपूर्वक किये हुए पुण्य और पाप दोनों प्रकारके कर्मोंको जन्म-मरणरूप संतापका हेतु समझकर उनके प्रति राग-द्वेषसे सर्वथा रहित हो जाता है और परमात्माके चिन्तनमें संलग्न रहकर आत्माकी रक्षा करता है।

इस मन्त्रमें कुछ शब्दोंको अक्षरशः अथवा अर्थतः दुहराकर इस वल्लीके उपसंहारकी सूचना दी गयी है।

॥ नवम अनुवाक समाप्त ॥ ९ ॥

॥ ब्रह्मानन्दवल्ली समाप्त ॥ २ ॥

